इकाई 1:- हिंदी काव्यशास्त्र की भूमिका एवं परिचय

इकाई की रूपरेखा

1.1 प्रस्तावना
1.2 उद्देश्य
1.3 हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय
    1.3.1 कविता और काव्य शास्त्र
    1.3.2 हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय
1.4 हिंदी काव्यशास्त्र का इतिहास
    1.4.1 भरत मुनि से अभिनवगुप्त तक
    1.4.2 कुंतक से पंडितराज जगन्नाथ तक
    1.4.3 रीतिकालीन काव्यशास्त्री
1.5 आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय
1.6 हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति
1.7 सारांश
1.8 शब्दावली
1.09 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
1.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री
1.12 निबंधात्मक प्रश्न

1.1 प्रस्तावना

प्रिय विद्यार्थियों! काव्यांग विवेचन नामक पुस्तक की यह प्रथम इकाई है। यह इकाई हिंदी काव्यशास्त्र की भूमिका एवं परिचय पर केंद्रित है। इस इकाई में हम काव्यशास्त्र के बारे में परिचयात्मक ढंग से पढ़ेंगे। काव्यशास्त्र कविता का अनुशासन है। इसका मूल संस्कृत काव्यशास्त्र रहा है। हिंदी का काव्यशास्त्र रीतिकाल से प्रारम्भ होता है। भारतीय काव्यशास्त्र अपनी प्रकृति में पश्चिम के सौंदर्यशास्त्र से भिन्न रहा है। इस इकाई में हम इसका अध्ययन करेंगे।

भारतीय काव्यशास्त्र मूलत: आस्वाद या पाठक केंद्रित रहा है। यह कविता को संपूर्णतः में देखने का प्रयास करता है। काव्य की आत्मा, काव्य हेतु, काव्य प्रयोजन, शब्द शक्ति आदि के माध्यम से कविता के रचाव की प्रक्रिया को भारतीय काव्यशास्त्र में पकड़ने का प्रयास किया गया है।

1.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन शीर्षक इस पुस्तक की यह पहली इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप—

- संस्कृत काव्यशास्त्र का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख काव्यशास्त्रियों से परिचित हो सकेंगे।
- संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रंथों को जान सकेंगे।
- हिंदी काव्यशास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ और ग्रन्थकार का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति को समझ सकेंगे।
- काव्यशास्त्र की शब्दावली से परिचित हो सकेंगे।

1.3 हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय

1.3.1 कविता और काव्य शास्त्र

कविता और काव्यशास्त्र

कविता का ही 'तार्किक अनुशासन' काव्यशास्त्र है। भाव अपनी निष्पत्ति में बहुविध मार्गो की खोज करते हैं । यदि इन मार्गो को सूचीबद्ध न किया जाए तो पाठक के स्तर पर रसास्वादन की प्रक्रिया अनसुलझी रह जाएगी। पाठक का बौद्धिक रूप ही आलोचक होता है, ठीक उसी प्रकार जैसे कविता का शास्त्रीय रूप काव्यशास्त्र।

कविता मनुष्य की मुक्ति का शाब्दिक-भाविक रूप विधान है। मनुष्य की संरचना सभ्यता के जटिल होते जा रहे रूपों में और जटिल होती जा रही है। मनुष्य के जटिल रूप को कविता अपने सूक्ष्म विधान में पकड़ती है। कविता पारदर्शी विधा है। किन्तु इसकी रचना-प्रक्रिया अत्यंत जटिल है। इस जटिल विधान को शास्त्र ही अनुशासित करते हैं। यहीं पर कविता का शास्त्र प्रकट होता है।

कविता भावों की चित्रात्मक अभिव्यक्ति है। कविता के मूल में जीवन है। जीवन के विविध चित्र ही कविता में अनुभूति के विविध रूपों में ढल कर प्रकट होते हैं। ये अनुभूति चित्र इतने विस्तृत और गूढ़

हैं कि इन्हें केवल आस्वाद या पाठ से नहीं समझा जा सकता। तब कविता का शास्त्र हमारी मदद करता है। कविता को तब काव्यशास्त्र के सहारे समझना पड़ता है। कविता और शास्त्र का रिश्ता तब जुड़ता है।

कविता एक बंधे-बंधाए जीवन चक्र को तोड़ती है। कविता के बिम्ब टटके होते हैं, नवीन होते हैं। यह नवीनता उसे स्थिर सौंदर्य दृष्टि से बगावत करके ही प्राप्त होती है। यदि स्थिर जीवन पर कविता प्रश्न न खड़े करे या उसे तोड़े न तो कविता की नूतनता कैसी? इसलिए कविता नये चित्र खड़ा करती है। कविता का प्रस्थान पुराने जीवन चक्रों को, बद्ध सौंदर्य दृष्टि को गतिशील करके ही हो सकता है। इसलिए हर सार्थक कविता एक मौलिक हस्तक्षेप होती है।

कविता आदिम बिम्ब होती है। सौंदर्य का सम्बन्ध आदिम बिम्बों से होता है। सौंदर्य तभी प्रकट होता है जब कोई चीज़, विचार या वस्तु हमारे सामने इस ढंग से आये कि वह पुराने दृष्यों को झूठा सिद्ध कर दे। सौंदर्य नये में भी है और सार्थक रूप में भी। सुन्दर-से-सुन्दर वस्तु या विचार यदि हमारे भीतर बद्ध धारणाओं को तोड़ कर गतिशील नहीं कर पा रहे तो वे हमारे किस काम के? कविता, प्राथमिक रूप में प्रगतिशील शिल्प है, क्योंकि यह हमारी दृष्टि को नये की ओर मोड़ती है।

काव्यशास्त्र कविता को समझने का तार्किक अनुशासन है। लेकिन यह अनुशासन केवल कविता की वर्तमान उपस्थिति पर आधारित नहीं है। काव्यशास्त्र, कविता की संभाव्य स्थितियों का अनुशासन भी है। साहित्यशास्त्र केवल लिखी जा चुकी कविता की ही छानबीन नहीं करता, अपितु भविष्य की कविता का पाठ भी है। काव्यशास्त्र कविता के अतीत, वर्तमान और भविष्य का अनुशासन और कोश है।

काव्यशास्त्र कविता के पार्श्व और प्रभाव को भी समेट लेता है। प्रश्न यह है कि यदि यह कविता के पार्श्व को भी समेट लेता है तो यह कविता का शास्त्र कैसे? दरअसल यह शास्त्र सार्वभौमिक जीवन स्थितियों को अपने केंद्र में रखता है, इसलिए यह कविता के पार्श्व को भी समेट लेता है।

काव्यशास्त्र, कविता के हेतु, प्रयोजन से लेकर मूल आत्मा या कर्म तक अपनी निष्पत्ति खोजता है। काव्यशास्त्र, सौंदर्य दृष्टि भी है। यह केवल कविता रचने का सूत्र ही नहीं बताता, अपितु सौंदर्य दृष्टि का विकास भी करता है। पश्चिम में काव्यशास्त्र को इसीलिए सौंदर्यशास्त्र कहा जाता है। सौंदर्यशास्त्र कविता की परिधि को ललित कलाओं तक विस्तार दे देती है।

कविता की रचना केवल कवि व्यापार नहीं है। कविता की रचना सामाजिक व्यवहार है। इसलिए कविता कैसी होनी चाहिए? के प्रश्न के साथ ही यह प्रश्न भी महत्वपूर्ण होता है कि कविता की सामाजिक अर्थवत्ता क्या है? काव्यशास्त्र कविता की आंतरिक संरचना के साथ ही कविता के वृत्त का भी अनुशासन है।

1.3.2 भारतीय काव्यशास्त्र का परिचय

हिंदी काव्यशास्त्र अपनी मौलिकता, गहनता और दार्शनिक ऊंचाई में वैश्विक साहित्यशास्त्र में ऊँचा स्थान रखता है। पश्चिम का साहित्य शास्त्र जिस प्रकार अरस्तु से प्रारम्भ होता है, उसी प्रकार भारतीय

काव्य शास्त्र आचार्य भरत मुनि से। दिलचस्प तथ्य यह है कि दोनों जगह का काव्य शास्त्र नाटक केंद्रित रहा है। बावजूद भारतीय काव्य शास्त्र अपनी प्रकृति में विशिष्ट रहा है।

भारतीय काव्यशास्त्र आचार्य भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। हालांकि भरत मुनि से पूर्व ही कुछ काव्य शास्त्री हो चुके थे। आचार्य भरत मुनि द्वारा रस सिद्धांत की प्रतिष्ठा हुई। इसी के साथ ही काव्य की आत्मा क्या है? का प्रश्न उठ खड़ा हुआ। इसी क्रम में आचार्य भामह द्वारा अलंकार संप्रदाय प्रतिष्ठित हुआ। आचार्य भरत ने अलंकार को काव्य की आत्मा माना। दंडी, रुद्रट, उदभट जैसे आचार्य अलंकार संप्रदाय को मानने वाले थे। इसी क्रम में आचार्य वामन ने रीति संप्रदाय की प्रतिष्ठा की। आचार्य आनंदवर्द्धन ने ध्वनि को काव्य की आत्मा माना तो आचार्य कुंतक ने काव्य की आत्मा के रूप में वक्रोक्ति को प्रतिष्ठित किया। आचार्य क्षेमेन्द्र ने ओचित्य को काव्य की आत्मा माना। छः संप्रदाय की अवधारणा भारतीय काव्य सिद्धांत की विशिष्ट पहचान रही है। काव्य का मूल क्या है? इस प्रश्न को भारतीय काव्यशास्त्र गंभीरतापूर्वक उठाता है।

भारतीय काव्यशास्त्र कविता के हेतु को भी हमारे सामने रखता है। प्रतिभा, व्यूत्पत्ति और अभ्यास को काव्य हेतु कहा गया है। कुछ और भी काव्य हेतु हो सकते हैं। लेकिन भारतीय काव्यशास्त्र ने स्पष्ट रूप से माना कि कविता रचित होने के आवश्यक उपकरण या हेतु होते हैं। इसी प्रकार काव्य प्रयोजन का प्रश्न है। काव्य लिखने के निश्चित रूप से कोई न कोई उद्देश्य होने चाहिए। निरुद्देश्य ढंग से मनुष्य कोई कार्य नहीं करता। काव्य प्रयोजन का सिद्धांत हमें कविता लिखने के उद्देश्य के बारे में बताता है।

भारतीय काव्यशास्त्र की एक उपलब्धि सहृदय की अवधारणा और साधरणीकारण का सिद्धांत है। कोई रचना हमें क्यों प्रीतिकर लगती है? यह हम इन सिद्धांतों से जान सकते हैं। किसी रचना का भोक्ता कौन है? यह भी हम सहृदय की अवधारणा से समझ सकते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र पाठक केंद्रित रहा है, जबकि पश्चिमी साहित्य शास्त्र रचना प्रक्रिया पर ज्यादा बल देता है।

भारतीय काव्यशास्त्र रस और ध्वनि संप्रदाय के माध्यम से कविता को सूक्ष्म स्तर पर विवेचित करता है। ध्वनि और रस का यह भेद इतना सूक्ष्म रहा कि ध्वनि के हज़ार से ज्यादा भेद स्थापित हो गए। रस की व्याख्या अपनी अमूर्तता में आध्यात्मिक बन जाता है। किन्तु फिर भी कविता का आनंद सामान्य आनंद और आध्यात्मिक आनंद से भिन्न है। अभिनवगुप्त और पंडितराज जगन्नाथ ने विषयानन्द, ब्रह्मानंद के साथ ही काव्यानंद की बात की। काव्य का आनंद विशिष्ट है । आनंद की यह अवधारणा भारतीय काव्यशास्त्र की विशिष्ट उपलब्धि है।

भारतीय काव्यशास्त्र का स्थायी भाव और संचारी भाव का विभाजन भी अपने आप में विशिष्ट है। हमारे व्यक्तित्व में कुछ भाव हमेशा वर्तमान होते हैं तथा कुछ क्षणिक रूप में आते हैं। क्षणिक भावों को व्यभिचारी या संचारी भाव कहते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र की स्थापित पुस्तकों में स्थायी भाव की संख्या 9/10/11 मानी गयी है। अभिनवगुप्त ने 9 स्थायी भाव माने थे, विश्वनाथ ने वात्सल्य को जोड़कर इनकी संख्या 10 कर दी तथा रूप गोस्वामी ने भक्ति को जोड़कर इनकी संख्या 11 कर दी। एक नये अध्ययन में स्थायी भावों की संख्या 22 कर दी गयी है (देखें- एक आलोचक की डायरी)। इसी प्रकार

आचार्य भरत मुनि ने 33 संचारी भाव माने थे। इधर एक नये अध्ययन में संचारी भावों की संख्या भी 175 से ज्यादा स्थिर की गयी है। (देखें - एक आलोचक की डायरी) अर्थ यह कि मनुष्य का जीवन जटिल होता जा रहा है । सभ्यता की जटिलता के बीच नये- नये भावों का आना स्वाभाविक ही है। भारतीय काव्यशास्त्र अनुभूति को जिस प्रकार विभेदित करता है, वह अपने आप में उपलब्धि है। भारतीय काव्यशास्त्र काव्य गुण और काव्य दोष के बहाने अच्छी कविता और ख़राब कविता के बीच हमें विभेद करना भी सिखाता है। कविता को लेकर इतनी स्पष्ट दृष्टि और कहीं नहीं मिलती।

1.4 हिंदी काव्य शास्त्र का इतिहास

1.4.1 भरतमुनि से अभिनवगुप्त तक

आचार्य भरत मुनि को भारतीय काव्यशास्त्र के आदि आचार्य के रूप में प्रतिष्ठा प्राप्त है। किन्तु स्वयं भरत ने अपने पूर्व के आचार्य परंपरा का स्मरण किया है। आचार्य भरत मुनि से पूर्व ऐतरेय महीदास का नाम मिलता है। ऐतरेय ब्राह्मण की रचना के कारण महीदास को यह विशेषण प्राप्त हुआ था। ऐतरेय ब्राह्मण का रचना काल ईसा पूर्व 1000 साल है। आचार्य महीदास ने अपने कला चिंतन में शिल्प और आत्मसंस्कृति को अभिन्न बताया है। उनके अनुसार कला या शिल्प की रचना ही आत्म संस्कार है। कुछ आचार्यो ने महीदास को कला का प्रथम चिंतक माना है।

आचार्य भरत मुनि भारतीय काव्यशास्त्र के पहले नाट्य समीक्षक व कला चिंतक है। रस सूत्र के प्रणेता तो आप हैं ही, साथ ही रंगमंच, नाट्य, कला आदि के संकलनकर्ता व्यक्तित्व के रूप में भी आप समादृत हैं।

आत्रेय आदि मुनियों के पांच प्रश्न के उत्तर के प्रसंग में नाट्यशास्त्र की रचना हुई है। नाट्यशास्त्र सूत्र, संग्रह, कारिका, भाष्य और परिकर श्लोक के शिल्प में रचित है। नाट्यशास्त्र में भावों, रंगमंच के बारे में विस्तार से वर्णित है। 8 स्थायी भाव और 33 संचारी भावों की सूची भी नाट्यशास्त्र में ही सर्वप्रथम मिलती है। भरत मुनि ने ही सर्वप्रथम 36 काव्य लक्षण पर चर्चा की। इसके साथ ही उन्होंने वृत्ति और प्रवृत्ति पर भी चर्चा की। भरत मुनि रस के आदि व्याख्याता हैं। विभाव, अनुभव और व्यभिचारी के संयोग से रस निष्पत्ति होती है। भरत मुनि के इस सूत्र की व्याख्या क्रम में ही रस संप्रदाय का पूरा भवन खड़ा हो गया। भरत मुनि ने नाट्य के सन्दर्भ में अपनी स्थापना दी किन्तु उसका महत्त्व साहित्य के लिए स्थायी है।

भामह

आचार्य भामह को अलंकार संप्रदाय का प्रतिष्ठापक आचार्य माना जाता है। भामह की रचना के रूप में काव्यालंकार ग्रन्थ प्रसिद्ध है। काव्यालंकार में भामह ने छः परिच्छेदों में तथा लगभग 400 कारिकाओं में काव्य का लक्षण, प्रयोजन, अलंकार, दोष, न्यायनिर्णय तथा शब्दशुद्धि पर विचार किया है। भामह द्वारा दी गयी काव्य की परिभाषा संस्कृत काव्यशास्त्र की प्राथमिक परिभाषा मानी जाती है। शब्दार्थो सहितौ काव्यम:। अर्थात शब्द और अर्थ का सहित भाव ही काव्य है। इस परिभाषा

के माध्यम से भामह कविता क्या है? तथा काव्य की आत्मा क्या है? जैसे प्रश्न के आदि प्रस्तावक बन जाते हैं।

आचार्य भामह का मुख्य प्रदेय अलंकार संप्रदाय की प्रतिष्ठा को लेकर है। आचार्य भामह पहले आचार्य हैं जिन्होंने कविता या काव्य को विवेचना के केंद्र में खड़ा किया। भामह ने लिखा है कि गुरु के उपदेश से शास्त्र का अध्ययन तो जड़मति वाले भी कर सकते हैं, पर काव्य तो किसी-किसी प्रतिभा वाले से ही जन्म लेता है।

आचार्य भरत ने चार ही अलंकार बताये थे। भामह ने भरत मुनि के 36 काव्य लक्षण को उलट कर उन्हें अलंकार बना दिया। भामह के अनुसार काव्य का सौंदर्य अलंकार से आता है। भामह ने काव्यालंकार में 38 अलंकारों की चर्चा की है। इस प्रकार आचार्य भामह अलंकार संप्रदाय की प्रतिष्ठा के आदि आचार्य के रूप में स्मरण किये जाते हैं।

दंडी

दंडी अलंकार संप्रदाय के प्रतिष्ठित आचार्य हैं। दंडी द्वारा लिखित काव्यादर्श संस्कृत काव्यशास्त्र में अपनी अलग पहचान रखता है। दंडी आचार्य भामह के समकालीन थे या थोड़े परवर्ती थे। भामह की तरह ही अलंकार को काव्य का मूल तत्व दंडी भी स्वीकार करते हैं। उन्होंने लिखा है - शरीरम् ताविष्टिर्थव्यवछिन्ना पदावली, अर्थात इष्ट अर्थ से व्यवछिन्न पदावली काव्य का शरीर है। आचार्य दंडी अलंकार को काव्य का मूल तो मानते हैं, पर अलंकार के विश्लेषण में उनका बल रीति और गुण पर है। आचार्य दंडी के अनुसार अलंकार काव्य में सौंदर्य को प्रतिष्ठित करने वाले धर्म हैं -' काव्यशोभाकरान धर्मनंलंकारान प्रचक्षते ।

आचार्य दंडी ने रीति के स्थान पर काव्य मार्ग शब्द का प्रयोग किया है। दंडी ने लिखा है - मार्ग तो अनंत हैं, पर कवि का अपना मार्ग होता है। तदभेदास्तु न शक्यन्ते वक्तुम प्रतिकवि स्थिता:। पश्चिम के शैली विज्ञान का प्रारंभिक रूप भी हमें दंडी में मिलता है। दंडी ने लिखा है हर कवि की रचना का अपना माधुर्य होता है। जिस तरह गन्ने, गुड़ और खीर में मिठास होती है पर अलग-अलग। फिर भी आचार्य दंडी स्पष्ट करते हैं कि प्रत्येक कवि की अपनी रीति हो सकती है । फिर भी दंडी ने वैदरभी और गौड़ी रीतियों को स्वीकार करते हैं।

आचार्य दंडी ने भी 38 अलंकारों को मान्यता दी है। आचार्य दंडी की अलंकार सम्बन्धी मान्यता आचार्य भामह का विस्तार हैं। दंडी ने भी पूरे प्रबंध में व्याप्त रहने वाले अलंकारों के अंतर्गत भाविक अलंकार का निरुपण किया है। इस तरह के अन्य साम्य भी देखे जा सकते हैं ।

आचार्य वामन

आचार्य वामन रीति सिद्धांत के प्रतिष्ठापक आचार्य हैं। वामन का ग्रन्थ काव्यालंकारसूत्रवृत्ति एक प्रसिद्ध ग्रन्थ रहा है। यह भारतीय काव्यशास्त्र का ऐसा दुर्लभ ग्रन्थ रहा है जो अलंकारशेखर ग्रन्थ के समान ही सूत्र और वृत्ति दोनों में लिखा गया है।

आचार्य वामन रीति के प्रतिष्ठापक हैं, किन्तु उन्होंने अलंकारों को पर्याप्त महत्त्व दिया है। उन्होंने लिखा है- 'काव्य अलंकार के कारण ग्राहय होता है...सौंदर्य ही अलंकार है '। अलंकार की इतनी व्यापक परिभाषा स्वयं अलंकारवादी आचार्यों ने भी नहीं दी है। बावजूद वामन रीति को काव्य की आत्मा मानते हैं। लेकिन वे रीति को गुण पर आधारित मानते हैं। आचार्य वामन ने दस शब्द गुण और दस अर्थ गुण के आधार पर तीन काव्य रीतियों की चर्चा की। वामन के अनुसार रीतियों में काव्य इसी तरह प्रतिष्ठित है, जिस तरह रेखाओं में चित्र। रेखाओं से चित्र बंधा होता है, उसी तरह रीति में काव्य बंधा होता है। रीति, कविता के चित्र में रेखाओं का खाका है, गुण और अलंकारों से इसमें रंग और छायायें रची जाती हैं। पर इन रंगों और छायाओं को बांधती रीति ही है। यही कारण है कि रीति को बंध कहा गया। आचार्य वामन ने बंध को कविता में प्रयुक्त शब्दों की जमावट के अर्थ में लिया।

आचार्य वामन ने कहा है कि जैसे सुन्दर युवती की काया में यौवन रहता है, ऐसे ही काव्य में गुण। गुणों के अतिरिक्त वामन ने काव्यपाक की अवधारणा भी जोड़ी है। उन्होंने लिखा है - काव्य में जब प्रत्येक अंग पूरी तरह सधा हो, तो उसमें जो चमक इसमें आ जाती है, वही काव्यपाक है। काव्यपाक वास्तव में परिष्कार की पराकाष्ठा है। इसमें सर्वाधिक उचित और सर्वोत्तम शब्द सर्वोत्तम और सर्वाधिक उचित अर्थ को व्यक्त करते हैं। आचार्य वामन ने लिखा है कि समग्र रूप में जब गुण स्फुट हो उठें तो यह समग्रता ही काव्यपाक है।

" गुणास्फुटत्वसाकल्यम् काव्यपाकं प्रचक्षते" ।

आचार्य वामन की दृष्टि में कविता एक संरचना है। वामन इस संरचना को काव्य गुण व अर्थ गुण में विभक्त करते हैंं वामन के अर्थ गुण में ध्वनि का पूर्व रूप भी है और रस को कांति नामक अर्थ गुण में समाहित करने की कोशिश भी। इस प्रकार वामन अपने रीति सिद्धांत में रीति की विशिष्ट पद रचना को हमारे सामने रखते हैँ।

आनंदवर्धन

आनंदवर्धन एक कश्मीरी आचार्य थे। इनका समय आचार्य वामन के समकालीन अर्थात 9 वीं शताब्दी में था। आनंद वर्धन ने ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की। आनंद वर्धन द्वारा लिखित ध्वन्यालोक लोचन भारतीय काव्यशास्त्र का एक विशिष्ट ग्रंथ है। ध्वन्यालोकलोचन ध्वनि सिद्धांत की स्थापना की दृष्टि से विशिष्ट ग्रंथ है । आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धांत व्याकरण के स्फोटवाद से प्रेरित था। आनंदवर्धन के अनुसार कविता के शब्द और अर्थ कुछ कहने के लिए इशारे बन जाते हैंं और इस प्रक्रिया में वह गूँज पैदा करते हैंं आनंदवर्धन ने काव्य को प्रतीयमान कहा। कविता में केवल इशारा होता है, मूल बात तो व्यंजना से ही उदघाटित हो सकता है। इसलिए अभिधा, लक्षणा के आगे व्यंजना शब्द शक्ति के माध्यम से व्यंग्य अर्थ ही कवि का अभिप्रेत होता है। आनंदवर्धन का ध्वनि सिद्धांत भारतीय काव्य शास्त्र का एक मौलिक सिद्धांत है।

राजशेखर

राजशेखर 10 वीं शताब्दी के प्रसिद्ध आचार्य रहे हैँ। राजशेखर मध्यप्रदेश की काव्य शास्त्रीय परम्परा का प्रतिनिधित्व करते हैँ। राजशेखर का प्रसिद्ध ग्रन्थ काव्यमीमांसा है। इसके अतिरिक्त नाटककार व कवि रूप में भी आपकी ख्याति रही है।

राजशेखर संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रथम आचार्य हैँ, जिन्होंने साहित्य और कविता के महत्व तथा उसकी सामाजिक भूमिका पर विचार किया। राजशेखर ने प्रतिभा प्रसंग में भी नयी उदभावना की। काव्य रचना प्रक्रिया के उन्होंने दो सोपान बताये - शक्ति और प्रतिभा । शक्ति से ही प्रतिभा जन्म लेती है। प्रतिभा स्वयं दो प्रकार की होती है - कारयित्री प्रतिभा व भावयित्री प्रतिभा। कवि की प्रतिभा को राजशेखर ने कारयित्री प्रतिभा तथा भावक की प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा कहा है। यह विवेचन काव्यशास्त्र की परम्परा में नया है तथा स्वयं राजशेखर की आलोचना दृष्टि का परिचायक है।

अभिनवगुप्त

अभिनवगुप्त भारतीय काव्यशास्त्र के शिखर काव्यशास्त्री के रूप में समादृत हैँ। अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैँ। इस ढंग से अभिनवगुप्त स्वयं किसी साहित्यिक सिद्धात के प्रणेता नहीं हैँ, किन्तु बावजूद उनकी प्रतिष्ठा किसी साहित्य सिद्धांत प्रणेता से कम नहीं है। अभिनवगुप्त शैव दर्शन को मानने वाले थे तथा कश्मीर की काव्य शास्त्र की परम्परा के उज्ज्वल नक्षत्र हैँ।

अभिनवगुप्त ने 45 ग्रन्थ लिखे हैँ। इन ग्रंथों को मुख्यतः तीन भागों में बाँटा गया है। काव्य शास्त्र एवं कला चिंतन से सम्बद्ध ग्रन्थ, शैव दर्शन तथा तंत्र से सम्बंधित ग्रन्थ तथा स्त्रोत ग्रन्थ। अभिनव के काव्यशास्त्रीय ग्रंथों में ध्वन्यालोक लोचन (ध्वन्यालोक लोचन की टीका) तथा अभिनव भारती (भरत मुनि के नाट्यशास्त्र की टीका)। ये दोनों ग्रन्थ टीकायें हैँ किन्तु मौलिक चिंतन की दृष्टि से इनकी महत्ता है।

अभिनवगुप्त की महत्ता यह है कि उन्होंने भरत मुनि से अपने समय तक के कला, सौंदर्य और काव्य के आस्वाद को आत्मसात कर अपने शैव दर्शन की परिधि में निरुपित कर सौंदर्यशास्त्र की उच्च भूमि प्रतिष्ठित की, जो अब तक साहित्यशास्त्रियों का पाथेय बनी हुई है। रस निष्पत्ति की प्रक्रिया में अभिनव ने अभिव्यक्तिवाद का सिद्धांत प्रतिपादित किया तो ध्वनि को रस से युक्त करते हुए रसादिध्वनि को दर्शानिक ऊंचाई प्रदान की।

अभ्यास प्रश्न / 1

सही/गलत में उत्तर दीजिये।

1. नाट्यशास्त्र के रचयिता आचार्य भामह हैं।
2. काव्यालंकार ग्रन्थ आचार्य दंडी का है।
3. अभिनवगुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं।
4. रस सूत्र के रचयिता भरत मुनि हैं।
5. रीति सिद्धांत के प्रतिस्ठापक आचार्य वामन हैं।

1.4.2 कुंतक से पंडितराज जगन्नाथ तक

कुंतक

आचार्य कुंतक 10 वीं शताब्दी में हुए कश्मीरी आचार्य हैँ। आचार्य कुंतक का वक्रोक्ति जीवितम अपने ढंग का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति को काव्य की आत्मा माना। कुंतक वक्रोक्ति को कविता का मूल मानते हैँ। आचार्य भामह ने सर्वप्रथम वक्रोक्ति शब्द का विवेचन किया था तथा वक्रोक्ति को अलंकारों का मूल अलंकार माना था। आचार्य भामह से संकेत लेकर कुंतक ने कविता का मूल वक्रोक्ति को माना तथा अपना नया सिद्धात खड़ा किया।

वक्रोक्ति के लिए कुंतक भंगी भणिति शब्द का प्रयो ग करते हैँ। विदग्धता कवि व्यापार है, इससे कविता में भंगिमा आती है। लेकिन कविता की संरचना को समझने के लिए उसे एक संघटना में देखना अनिवार्य है। इसे कुंतक निरस्तावयव समुदाय कहते हैँ।

आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति में ध्वनि, रस, अलंकार आदि सभी को समाहित कर लिया है। उन्होंने वक्रोक्ति के भेद करते हुए उसे - वर्णविन्यासवक्रता, पद पूर्वाद्ध वक्रता, प्रत्ययवैचित्रय वक्रता, वाक्य वैचित्रय वक्रता, प्रकरणवक्रता तथा प्रबंध वक्रता में विभाजित किया। इस प्रकार आचार्य कुंतक ने वक्रोक्ति सिद्धांत के माध्यम से कविता को नयी भंगिमा प्रदान की।

भोज

आचार्य भोज 11वीं शताब्दी के पूर्वाद्ध में हुए थे। आचार्य भोज धारा, मध्य प्रदेश के यशस्वी राजा थे, किन्तु काव्यशास्त्र में आपका कृत्रित्व स्थायी महत्त्व रखता है । सरस्वती कंठाभरण और श्रृंगारप्रकाश आपकी प्रसिद्ध काव्यशास्त्रीय पुस्तकें हैँ। इसके अतिरिक्त व्याकरण, आयुर्वेद, शैव दर्शन, वास्तु विद्या आदि विषयों पर भी अनेक रचनाएं प्राप्त होती हैँ।

आचार्य भोज को रसवादी आचार्य माना जाता है। श्रृंगार को एकमात्र रस मानने की आपकी अवधारणा बहुचर्चित रही है। लेकिन रस के अतिरिक्त भी आचार्य भोज का चिंतन बहुविध है। अलंकारों के विवेचन में भोज आचार्य दंडी का आश्रय लेते हैँ। किन्तु उन्होंने दंडी के अलंकार विवेचन का विस्तार करते हैँ। आचार्य भोज गुण और अलंकार विवेचन में नयी उदभावनायें भी करते हैँ। भोज ने गुण के तीन विभाजन किये - बाह्य, आभायंतर और वैशेषिक। बाह्य गुण शब्दाश्रित होते हैँ, आभयांतर गुण अर्थाश्रित होते हैँ तथा वैशेषिक गुण दोषों के गुणों में परिवर्तित होने से बनते हैँ। इन तीन कोटियों में 24-24 गुणों को भोज ने व्यवस्थापित किया है। यह वामन के गुण विचार का विस्तार है। भोज का विशिष्ट योगदान दोषों के गुण में रूपांतरित होने की प्रक्रिया विवेचन में निहित है। इसी प्रकार देश्य और ग्राम्य दोष की गुण में परिणति में भोज ने अपनी लोकदृष्टि का परिचय दिया है।

पंडितराज जगन्नाथ

पंडितराज जगन्नाथ 16वीं शताब्दी के उत्तरारद्ध में हुए संस्कृत काव्यशास्त्र की परम्परा के अंतिम बड़े आचार्य के रूप में गिने जाते हैं। हालांकि यह कहना सही न होगा कि पंडितराज अंतिम आचार्य हैँ

किन्तु पंडितराज की प्रतिभा ने यह लोक प्रवाद उत्पन्न किया। पंडितराज कश्मीरी आचार्यों की परम्परा से दूर आंध्र प्रदेश से थे।

रस गंगाधर आपकी कीर्ति का आधार है। यह ग्रन्थ भारतीय काव्यशास्त्र में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने रमणीयार्थ प्रतिपादक: शब्द: काव्यम् कहकर मविता को रमणीयता के अर्थ में लिया। प्रश्न है कि रमणीयता क्या है? इसे स्पष्ट करते हुए पंडितराज ने लोकोत्तर आहलाद जनक गोचरता कहा। रमणीयता से ही सौंदर्य चमत्कार उत्पन्न होता है और यह चमत्कार आनंद उत्पन्न करता है। इस आनंद को भी पंडितराज तीन भागों में विभक्त करते हैं - ब्रह्मानन्द, विषयानन्द और काव्यानन्द। काव्य का आनंद सामान्य जीवन और ब्रह्म दोनों के आनंद से भिन्न होता है।

पंडितराज जगन्नाथ ने काव्य गुण को विस्तारित किया तथा अलंकारों में भी नया जोड़ा।

1.4.3 रीतिकालीन काव्यशास्त्री

भक्ति कविता में शास्त्र से ज्यादा लोक को प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। यही कारण है कि भक्तिकाल में काव्यशास्त्र का स्वतंत्र या मौलिक विकास न के बराबर हुआ। किन्तु रीतिकाल में शास्त्र को पुन: स्वीकृति प्राप्त हुई। इसका परिणाम यह रहा कि रीतिकाल में बहुत से आचार्य - कवि हुए। इन आचार्य - कवियों ने भारतीय काव्यशास्त्र को सरल रूप में हमारे सामने रखा। कुछ आचार्यों ने तो नवीन उदभावनायें भी कीं। यहाँ हम कुछ रीतिकालीन काव्यशास्त्रियों का परिचय प्राप्त करेंगे।

चिंतामणि त्रिपाठी

चिंतामणि त्रिपाठी से आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रीतिकाल का प्रारम्भ माना है। चिंतामणि रीतिकाल के आचार्य कवि हैं। चिंतामणि त्रिपाठी के प्रमुख ग्रन्थ हैं - काव्यविवेक, कविकुल-कल्पतरु, काव्यप्रकाश, रसमंजरी, छंद विचार पिंगल और रामायण। लेकिन इनकी ख्याति का आधार कविकुलकल्पतरु और श्रृंगारमंजरी ही रहे हैं। कविकुलकल्पतरु ग्रन्थ में आठ प्रकरण है और 1133 पद्य हैं।इसलिए ग्रन्थ में काव्यभेद, काव्य लक्षण, काव्य गुण रूपक, शब्दालंकार, अर्थालंकार, दोष निरुपण, शब्दार्थ निरुपण, ध्वनि निरुपण, ध्वनि के भेद, नायक -नायिका भेद आदि पर विस्तृत ढंग से विचार किया गया है।

कुलपति

कुलपति आगरा के रहने वाले थे। इनके अनेक ग्रन्थ मिलते हैं, किन्तु इनकी ख्याति का आधार रसरहस्य रहा है। रस रहस्य की रचना कुलपति ने अपने आश्रयदाता राम सिंह की आज्ञा से की थी। रस रहस्य में 8 वृत्तान्त और 652 पद्य हैं। रस रहस्य में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, काव्य पुरुष रूपक तथा काव्य भेदों आदि की चर्चा है। इसके अतिरिक्त ध्वनि, रस, गुण, दोष आदि पर भी रस पूर्वक विचार किया गया है।

सोमनाथ

सोमनाथ की दो रचनाएं प्रसिद्ध हैं - रसपीयूषनिधि और श्रृंगारविलास। रसपीयूषनिधि में 22 तरगें तथा 1127 पद्य हैं। इस ग्रन्थ में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य प्रकरण, शब्द शक्ति, ध्वनि भेद, नायिका भेद आदि का निरुपण हुआ है।

श्रृंगार विलास में श्रृंगार रस और नायिका भेद का ही विस्तार है। कुछ लोग इसे रसपीयूषनिधि का ही अंश मानते हैं।

भिखारीदास

भिखारीदास रीतिकाल के प्रमुख आचार्य हैं। इनके 7 ग्रन्थ मिलते हैं। रस सारांश, छंदोरवपिंगल, काव्य निर्णय, श्रृंगार निर्णय, नाम प्रकाश (कोश) , विष्णु पुराण भाषा, शतरंज शतिका।

रस सारांश - रस सारांश में रस वृत्तियों और रस दोषों समेत रस के विभिन्न अंगों का परिचय मिलता है।

काव्य निर्णय - काव्य निर्णय में 25 उल्लास और 1210 पद्य हैं। ग्रन्थ में काव्य प्रयोजन, काव्य कारण, काव्य के विभिन्न अंगों का परिचय, शब्द शक्ति निरुपण, अलंकार मूल वर्णम, काव्य गुणों एवं दोष आदि का वर्णन किया गया है। काव्य शास्त्र को सरल रूप में तथा अपनी उपपत्ति प्रस्तुत करने की दृष्टि से काव्य निर्णय का महत्त्व रहा है।

श्रृंगार निर्णय - श्रृंगार निर्णय के मुख्यतः चार खंड हैं। श्रृंगार रस का आलम्बन विभाव (नायक - नायिका भेद), श्रृंगार रस का उद्दीपन विभाव (सखी -दूत वर्णन), श्रृंगार रस विषयक अन्य सामग्री तथा श्रृंगार रस के संयोग एवं वियोग भेदों पर विस्तारपूर्वक चर्चा की गयी है। यह ग्रन्थ भी चर्चित रहा है।

प्रतापसाहि

प्रतापसाहि के दो ग्रन्थ चर्चित रहे हैं। व्यंग्यार्थ कौमुदी और काव्य विलास।

व्यंग्यार्थ कौमुदी - इस ग्रन्थ के दो भाग हैं। मूल भाग और वृत्ति भाग। मूल भाग में 130 पद्य हैं। यह ग्रन्थ काव्य प्रयोजन, शब्द शक्ति पर तो प्रकाश डालता ही है, किन्तु पुस्तक नायक - नायिका भेद की दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

काव्य -विलास - इस ग्रन्थ की रचना 1886 में हुई थी। ग्रन्थ में 6 प्रकाश हैं तथा 400 पद्य हैं। ग्रन्थ में काव्य लक्षण, काव्य प्रयोजन, काव्य भेद, शब्द शक्ति, गुण - दोष निरुपण तथा रस व ध्वनि भेदों पर चर्चा की गयी गई है।

अभ्यास प्रश्न 2

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये।

1. कविकुलकल्पतरु ग्रन्थ के रचयिता .....हैं।
2. पंडितराज जगन्नाथ का प्रसिद्द ग्रन्थ .....है।
3. वक्रोक्ति संप्रदाय के प्रवर्तक .....हैं।
4. कविप्रिया .....सम्बन्धी रचना है।

5. भोज का रस सम्बन्धी प्रसिद्द ग्रन्थ .....है।
6. आचार्य केशवदास काव्य धरा के अनुसार ..... के कवि हैं।

1.5 आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्र का परिचय

भारतीय काव्यशास्त्र की परंपरा में मौलिकता की दृष्टि से पंडितराज जगन्नाथ तक की यात्रा को ही पूर्ण मान लिया गया है, किन्तु आधुनिक युग में बहुत से काव्यशास्त्रियों ने नये ढंग से काव्य तथा उसकी सैद्धांतिकी पर विचार किया है। साहित्यिक मूल्यों में परिवर्तन होता रहता है। इस परिवर्तन के सापेक्ष कविता की सैद्धांतिकी भी बदल जाती है। काव्यशास्त्र कविता की सैद्धांतिकी, मूल्य का ही अनुशासन है।

आधुनिक हिंदी काव्यशास्त्रियों ने साहित्यिक मूल्यों में बदलाव के सापेक्ष नये ढंग से कविता पर विचार किया। हिंदी के काव्यशास्त्रियों में श्यामसुंदर दास का साहित्य।लोचन (1922 ई.), अर्जुनदास केडिया का भारती भूषण (1928) एवं 'काव्य कलानिधि', जगन्नाथ प्रसाद भानु द्वारा लिखित काव्य प्रभाकर (1909), अलंकार प्रश्नोत्तरी (1918), हिंदी काव्यशास्त्र (1918), एवं अलंकार दर्पण (1936), गुलाब राय द्वारा लिखित काव्य के रूप (1947), साहित्य समीक्षा (1947), हिंदी नाट्य विमर्श (1947)आदि प्रारंभिक प्रयास थे। इसी क्रम में आचार्य रामचंद्र शुक्ल एवं डॉ नगेंद्र ने भारतीय काव्यशास्त्र के सन्दर्भ में महत्वपूर्ण कार्य किया। आचार्य रामचंद्र शुक्ल की रस मीमांसा (प्रकाशन मृत्यु उपरांत 1949 ई में) इस दृष्टि से हिंदी काव्यशास्त्र में अपनी मौलिकता की दृष्टि से विशेष चर्चित रही है। साधरणीकरण आलम्बन का होता है, यह कहकर आचार्य शुक्ल नयी स्थापना दी। हालांकि बाद के आचार्यों ने आचार्य शुक्ल की स्थापना से असहमति व्यक्त की। इसी क्रम में डॉ नगेन्द्र का 'रस सिद्धांत' (1964) भी अपने ढंग से महत्वपूर्ण कृति है। नगेन्द्र ने रस सिद्धांत की व्यापक ढंग से व्याख्या की तथा साधारणीकरण के प्रश्न में कवि का साधारणीकरण होता है, यह मत प्रतिष्ठित किया। इसी क्रम में भोलाशंकर व्यास का ध्वनि संप्रदाय और उसके सिद्धांत, दशरूपकम, कुवल्यानंद, आचार्य राममूर्ति त्रिपाठी का भारतीय काव्यशास्त्र के नये क्षितिज, औचित्य विमर्श, रस विमर्श, साहित्यशास्त्र के प्रमुख पक्ष, काव्यालंकारसारसंग्रह एवं लघुवृत्ति, सहृदय और साधरणीकरण आदि पुस्तकें महत्वपूर्ण हैं।

हिंदी काव्यशास्त्रियों ने संस्कृत काव्यशास्त्र के मतों को ही बड़े स्तर पर स्वीकार कर लिया। किन्तु इधर कविता की रचना प्रक्रिया को सामाजिक भूमिका पर नये ढंग से देखने की पहल तेज हुई। मुक्तिबोध का 'कविता के तीन क्षण' निबंध हो या विजयदेव नारायण साही का 'लघु मानव के बहाने हिंदी कविता पर बहस' नामक निबंध कविता को समझने के आधुनिक प्रयास ही हैं। साहित्य सिद्धांत की दिशा में भी कुछ प्रयास हुए। सामवेदनिक साहचार्यता का सिद्धांत, साहित्यिक विकास का सिद्धांत, रचना अंतराल का सिद्धांत इसी प्रकार के प्रयास थे। लेकिन व्यापक स्तर पर संस्कृत का काव्यशास्त्र अभी भी आधार बना हुआ है।

1.6 हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति

प्रिय विद्यार्थियों! इस इकाई में आपने भारतीय काव्यशास्त्र के इतिहास व प्रमुख काव्यशास्त्रियों का अध्ययन किया। आपने प्रमुख कृतियों का भी अध्ययन किया। अब हम संक्षेप में हिंदी काव्यशास्त्र की प्रकृति को समझने का प्रयास करेंगे।

- मूल तत्व या काव्य के आत्मा की खोज

भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति कविता के मूल तक पहुँचने की रही है। इसे ही काव्य की आत्मा के रूप में देखा गया है। काव्य की आत्मा को कभी रस में खोजा गया तो कभी अलंकार में। इस क्रम में 6 संप्रदाय या साहित्य सिद्धांत हमारे सामने आते हैं । मूल की खोज का प्रश्न मूलत: दार्शनिक प्रश्न है। अत: इस प्रश्न को दार्शनिक स्तर पर भी देखा जाना चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र का रस निष्पत्ति सूत्र हो या ध्वनि सिद्धांत , सभी में एक दार्शनिक सूत्र छिपे हुए हैं।

- पाठकीय आस्वाद या रस निष्पत्ति पर बल

भारतीय काव्यशास्त्र का प्रधान बल रस निष्पत्ति या रस आस्वादन पर रहा है। कोई कविता पढ़ने के उपरांत हमें रस की प्राप्ति किस प्रकार होती है? तथा उससे हमें आनंद की प्राप्ति कैसे होती है? यह भारतीय काव्यशास्त्र का मूल प्रश्न है। भारतीय काव्यशास्त्र का प्रधान बल पाठकीय आस्वाद पर रहा है, इसे एक प्रधान विशेषता के रूप में देखा जा सकता है।

- साहित्य सिद्धांत की आवयविक संरचना पर बल

भारतीय काव्यशास्त्र में कविता या रचना की सम्पूर्ण संरचना पर बल है। कविता में गुण, दोष, शब्द शक्ति, अलंकार, रस आदि तत्वों पर बल है। एक कविता किन-किन तत्वों से मिलकर बनती है, भारतीय काव्यशास्त्र में इसको विस्तार से विवेचित किया गया है।

- लोकधर्मी चेतना का विस्तार

भारतीय काव्यशास्त्र में लोकधर्मी चेतना की उपस्थिति रही है। आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने लोक मंगल पर बहुत बल दिया है। उसके पूर्व आचार्य भरत ने नाटक के सन्दर्भ में लोकधर्मी शब्द का प्रयोग किया था।

अभ्यास प्रश्न 3

100 शब्दों में टिप्पणी कीजिये

1- आचार्य वामन का रीति सिद्धांत

.....

.....

.....

2- कविता और शास्त्र का सम्बन्ध

.....

.....

.....

3- भारतीय काव्यशास्त्र की प्रकृति

.....

.....

.....

1.7 सारांश

भारतीय काव्यशास्त्र की परम्परा अत्यंत समृद्ध रही है। आचार्य भरत मुनि से लेकर रामचंद्र शुक्ल तक ने कविता की परिभाषा व उसके मूल तत्वों पर विस्तार से प्रकाश डाला है। भरत ने 36 काव्य लक्षण माने थे। इस प्रकार अलंकार के सैकड़ों भेद स्थापित हुए। 6 नये काव्य संप्रदाय बने। इस बहाने कविता को समझने की व्यापक दृष्टि विकसित हुई । भारतीय काव्यशास्त्र इस ढंग से व्यापक समृद्ध रहा है।

1.8 शब्दावली

- आस्वाद- काव्य ग्रहण करने की प्रक्रिया
- बिम्ब- कविता रचाव का चित्रात्मक विधान
- आदिम- प्राथमिक या प्राचीन
- कोश- शब्दों की व्युत्पत्ति व पर्याय बताने का अनुशासन
- सार्वभौमिक- देश-काल की सीमाओं से परे का शाश्वत सत्य
- सौन्दर्यशास्त्र- साहित्य व ललित कलाओं का शास्त्रीय अनुशासन
- काव्यानन्द- काव्य पाठ व ग्रहण से उत्पन्न सहृदय का आनंद
- सहृदय- काव्य ग्रहण करने का प्रतिभाशाली पाठक
- स्थायी भाव- मनुष्य के हृदय में हमेशा वर्तमान रहने वाले भाव
- संचारी भाव- मनुष्य के हृदय में क्षणिक रूप से उठने वाले मनोविकार

1.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- गलत 2- गलत 3- सही 4-सही 5- सही

1) 1- चिंतामणि त्रिपाठी 2- रस गंगाधर 3-आचार्य कुंतक 4- अलंकर सम्बन्धी 5- श्रृंगार प्रकाश 6- रीतिकाल

1.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. भारतीय काव्यशास्त्र – भगीरथ मिश्र
2. भारतीय काव्यशास्त्र का इतिहास- बलदेव उपाध्याय

1.11 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा- डॉ राधावल्लभ त्रिपाठी

1.12निबंधात्मक प्रश्न

1. कविता और शास्त्र के अंतर्संबंध को रेखांकित कीजिये।
2. भारतीय काव्यशास्त्र के प्रमुख आचार्यों के बारे में विस्तार से बताएं।

इकाई 2- रस

इकाई की रुपरेखा

2.1 प्रस्तावना
2.2 उद्देश्य
2.3 रस का अर्थ एवं स्वरूप
2.4 रस संप्रदाय का इतिहास
2.5 रस के भेद
2.6 रस का स्वरुप
2.7 रस का महत्व
2.8 सारांश
2.9 शब्दावली
2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
2.13 निबंधात्मक प्रश्न

2.1 प्रस्तावना

कविता और साहित्यिक रचना पढ़ते समय हमें जो आंनद मिलता है, उसे भारतीय काव्यशास्त्र में रस कहा गया है। प्रश्न है कि यह आनंद किस प्रकार का होता है? क्या यह आंनद भौतिक आंनद जैसा ही होता है? या कुछ भिन्न होता है? रस की प्रक्रिया तक पहुंचने के तत्व क्या हैं? रस तक केवल पाठक पहुँचता है या लेखक भी पहुँचता है? यह सब प्रश्न रस के सन्दर्भ में उठते रहते हैं। इस इकाई में हम रस को बेहतर ढंग से समझने का प्रयास करेंगे।

2.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन नामक पाठ्य पुस्तक की यह दूसरी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप –

- रस के अर्थ को जान सकेंगे।
- रस के तत्व का ज्ञान प्राप्त कर सकेंगे।
- रस के स्वरुप को समझ सकेंगे।
- रस संप्रदाय के इतिवृत्त को जान सकेंगे।
- कविता में रस की भूमिका को समझ सकेंगे।

2.3 रस का अर्थ एवं स्वरुप

'रस' शब्द का सबसे पहला प्रयोग 'तैतीरीय उपनिषद' में मिलता है। यहाँ रस को ब्रह्म के पर्याय रूप में देखा गया और "रसो वै स:" अर्थात रस वही है...यानी ब्रह्म ही है। स्पष्ट है कि वेदों और उपनिषद में रस की व्याख्या कविता या नाटक के सन्दर्भ में न करके ईश्वर या ब्रह्म के रूप में की गयी। नाट्य या कविता के सन्दर्भ में रस का पहला प्रयोग आचार्य भरत मुनि ने किया। भरत मुनि ने प्रश्न किया -"रस इति क: पदार्थ:? " फिर इस प्रश्न का उत्तर तलाशते हुए भरत मुनि ने रस को 'आस्वादयत्वात' कहा है। अर्थ यह कि रस आस्वादन की प्रक्रिया है। आचार्य भरत इस आस्वादन की प्रक्रिया को पाक रस तथा औषधि रस के उदाहरण से पुष्ट करते हैं। भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में लिखा है:

यथा हि नानाव्यञ्जनौषधिद्रव्यसंयोगाद्रसनिष्पत्तिर्भवति, यथा हि गुडादिभिर्द्रव्यंव्यंजन- रोषधिभिश्च षाडवादयो रसा निर्वर्तन्ते, तथा नानाभावोपगता अपि स्थायिनो भावा रसत्व- माप्नुवन्तीति ।

रस इति कः पदार्थः। उच्यते। आस्वाद्यत्वात् । कथमास्वाद्यते रसः । यवा हि नानाव्यञ्जनसंस्कृतमन्नं भुञ्जाना रसानास्वादयन्ति सुमनसः पुरुषा हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तथा नानाभावाभिनयव्यञ्जितान् वागङ्गसत्त्वोपेतान् स्थायिभावानास्वादयन्ति सुमनसः प्रेक्षकाः हर्षादींश्चाधिगच्छन्ति तस्मान्नाट्यरसा इत्यभिव्याख्याताः । (नाट्यशास्त्र, काव्यमाला, पृ० ६३) - जिस प्रकार नाना प्रकार के व्यंजनों, ओषधियों तथा द्रव्यों के संयोग से [भोज्य] रस की निष्पत्ति होती है, जिस प्रकार गुडादि द्रव्यों, व्यंजनों

और ओषधियों से 'पाडवादि' रस बनते हैं, उसी प्रकार विविध भावों से संयुक्त होकर स्थायी भाव भी [नाट्य] 'रस' रूप को प्राप्त होते हैं।

यहाँ प्रश्न उठता है रस कौन-सा पदार्थ है अथवा रस को रस क्यों कहा जाता है ? इसका उत्तर है - आस्वाद्य होने से, अर्थात् जो आस्वाद्य हो वह रस है। जिस प्रकार नानाविध व्यंजनों से संस्कृत अन्न का उपभोग करते हुए प्रसन्नचित्त पुरुप रसों का आस्वादन करते हैं और हर्षादि का अनुभव करते हैं इसी प्रकार नाटक आदि देखने से या कविता पढ़ने से स्थायी भाव के साथ विभाव, अनुभाव एवं संचारी का संयोग होने से प्रेक्षक रस को प्राप्त करता है। यहाँ रस को समझने के लिए रस के तत्वों को समझना आवश्यक है।

रस की परिभाषा : रस के सम्पूर्ण विवेचन का आधार है, भरत का यह प्रसिद्ध सूत्र :

विभावानुभावव्यभिचारिसंयोगाद्रसनिष्पत्तिः। (नाट्यशास्त्र)

अर्थात विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।

रस की इस परिभाषा में कुछ पारिभाषिक शब्द आये हैं, उन्हें समझना आवश्यक है। भाव, विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी के संयोग से ही रस निष्पत्ति होती है। यहाँ इन पारिभाषिक शब्दों का अर्थ समझना रस की समझ की दृष्टि से आवश्यक है।

भाव - भाव शब्द का शाब्दिक अर्थ होने की स्थिति से जुड़ा हुआ है। किन्तु भाव, संवेगों का समुचच्य है। भाव दो प्रकार के माने गए हैं - स्थायी भाव व संचारी या व्यभिचारी भाव। स्थायी भाव सहृदय के हृदय में हमेशा वर्तमान रहते हैं और परिस्थिति व आवश्यकतानुसार प्रकट हो जाते हैं। ये संख्या में 10 और 11 कहे गए हैं। भरत मुनि ने 8 स्थायी भाव माने थे। शांत रस को 9 वें स्थायी भाव के रूप में अभिनवगुप्त ने मान्यता दी। विश्वनाथ ने वात्सल्य को तथा रूप गोस्वामी ने भक्ति को स्थायी भाव के रूप में मान्यता दी। समय के अनुसार नये स्थायी भाव भी जोड़े गए हैं।

विभाव

विभाव का अर्थ है भाव के कारण। अर्थ यह कि जो भाव के उत्पन्न होने का कारण बनते हैं, वे विभाव कहे जाते हैं। विभाव के दो प्रकार माने गए हैं - 1.आलम्बन 2. उद्दीपन।

1.**आलम्बन**- का अर्थ है जिनका आश्रय लेकर भाव उत्पन्न होते हैं। आलम्बन भी दो प्रकार का होता है -आश्रय और आलम्बन। जिसके मन में भाव उत्पन्न हो, उसे आश्रय कहेँगे तथा जिस पर भाव टिके उसे हम आलम्बन कहेँगे। जैसे दुष्यंत का शकुंतला के प्रति प्रेम का उदित होना। इसमें दुष्यंत को हम आश्रय कहेँगे और शकुंतला को आलम्बन कहेँगे। लेकिन यदि यही क्रम उलट जाए और शकुंतला के मन में दुष्यंत के प्रति प्रेम उदित हो तो शकुंतला आश्रय और दुष्यंत आलम्बन होंगे। सरल अर्थो में समझें तो यह कि आश्रय का अर्थ है, जिसमें भाव स्थित हों... और आलम्बन का अर्थ है, जिस पर भाव टिकें।

2. **उद्दीपन** - भाव को उद्दीप्त करने वाले कारक तत्वों को उद्दीपन कहते हैं। जैसे प्रेम के सन्दर्भ में देखें तो एकांत स्थल, नायक -नायिका का एक -दूसरे के प्रति आकर्षण, एक -दूसरे की चेष्टाएँ आदि उद्दीपन विभाव कही जाएंगी।

अनुभाव - अनु का अर्थ है पीछे से... अर्थात भाव के पीछे चलने वाली बाह्य चेष्टाओं को अनुभाव कहते हैं। अनुभाव चार प्रकार के कहे जाते हैं -

1. आंगिक अनुभाव अर्थात शरीर से जुड़ी क्रियाएँ
2. वाचिक अनुभाव अर्थात वाणी द्वारा व्यक्त व्यवहार व क्रियाएँ
3. आहार्य अनुभाव अर्थात वेशभूषा, साज -सज्जा आदि से जुड़ी हुई क्रियाएँ
4. सात्विक अनुभाव अर्थात सत्व के योग से उत्पन्न अनुभाव

व्यभिचारी - व्यभिचारी या संचारी भाव 33 कहे गए हैं। आचार्य भरत मुनि ने सर्वप्रथम नाट्यशास्त्र में 33 संचारी भावों की सूची दी है। 33 संचारी भाव हैं -

संचारी भाव : संख्या निर्धारण का प्रश्न

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र में 33 संचारी भावों की संख्या निर्दिष्ट की है। भरत मुनि द्वारा परिगणित 33 संचारी भाव हैं-निर्वेद, ग्लानि, शंका, असूया, मद, श्रम, आलस्य, दीनता, चिंता, मोह, स्मृति, धृति, व्रीडा, चापल्य, हर्ष, आवेग, जड़ता, गर्व, अवहित्था, उग्रता, मति, व्याधि, उन्माद, स, वितर्क, विषाद, औत्सुक्य, निद्रा, अपस्मार, स्वप्न, विवोध, अमर्ष, मरण। समय-समय पर 33 संचारी भावों की संख्या बढ़ाने के प्रयास होते रहे हैं। देव ने जब 34वें संचारी के रूप में छल को जोड़ा तब आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने इसका खंडन करते हुए छल को अवहित्या के अंतर्गत समाहित कर दिया। इसी प्रकार के प्रयास अन्य विद्वतजनों ने भी किए हैं।

2.4 रस संप्रदाय का इतिहास

प्रिय विद्यार्थियों! आपने रस की परिभाषा का अध्ययन किया। आपने रस के तत्वों को भी जाना। अब हम रस संप्रदाय के इतिहास को संक्षेप में जानने का प्रयास करेंगे। रस संप्रदाय का विधिवत इतिहास भरत मुनि के नाट्यशास्त्र से प्रारम्भ होता है। आचार्य भरत ने ही सबसे पहले रस की परिभाषा प्रस्तुत की । भरत मुनि ने ही सबसे पहले रस निष्पत्ति के सूत्र से पाठकीय या प्रेक्षक के आस्वाद की बात की। इस प्रकार भरत मुनि रस संप्रदाय के आदि आचार्य ठहरते हैं। आचार्य भरत के पश्चात भामह, दंडी जैसे अलंकार वादी आचार्यों के कारण अलंकार संप्रदाय का बोलबाला रहा। हालांकि इस बीच भट्टलोल्लट, शंकुक, भट्टनायक जैसे आचार्यों ने रस निष्पत्ति की अवधारणा पर अपने सूत्र दिए। भट्ट लोल्लटट और शंकुक की रचनाएं तो नहीं मिलतीं किन्तु भट्टनायक का हृदयदर्पण नामक ग्रन्थ अवश्य प्राप्त होता है। इसके पश्चात अभिनव गुप्त का नाम रस संप्रदाय के इतिहास में सर्वोच्च है । सैद्धांतिक दृष्टि से अभिनव गुप्त ध्वनिवादी आचार्य हैं, किन्तु रस ध्वनि की प्रतिष्ठा करके उन्होंने कविता में रस की भूमिका एवं महत्व को स्थायी कर दिया। अभिनव के उपरांत आचार्य भोज का श्रृंगार प्रकाश रस का महत्वपूर्ण ग्रन्थ है। आचार्य विश्वनाथ ध्वनिवादी होते हुए भी रस के स्वरुप पर प्रगाढ़ चिंतन करते

हैं। रस युक्त वाक्य ही काव्य है, यह विश्वनाथ की ही परिभाषा है। रीतिकाल में अलंकार संप्रदाय की प्रतिष्ठा रही है। हालांकि मतिराम का रस राज, केशव की रस प्रिया आदि रचनाएं रस की एकांतिक प्रतिष्ठा करती हैं, किन्तु संख्या की दृष्टि से रस संप्रदाय का इतिवृत्त यहाँ न्यून रहा है। आधुनिक काल में आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रस मीमांसा नामक ग्रन्थ में तथा डॉ नगेन्द्र ने रस सिद्धांत नामक ग्रन्थ के माध्यम से रस सिद्धांत को दार्शनिक ऊंचाई प्रदान की है।

2.5 रस के भेद

स्थायी भाव का सबसे बड़ा कार्य यह है कि ये रस तक ले जाने में हमारी मदद करते हैं। जैसे रति से श्रृंगार रस बनता है। रति या प्रेम का मनोभाव मनुष्य मात्र के हृदय में वर्तमान रहता है, किन्तु विशेष परिस्थितियों में या काव्य में आकर वह श्रृंगार रस में रूपांतरित हो जाता है। इस प्रकार स्थायी भाव और रस में भेद है। यहाँ स्थायी भाव के प्रकारों को देखना उचित होगा।

1. रति
2. हास
3. शोक
4. क्रोध
5. उल्लास
6. भय
7. जुगुप्सा /घृणा
8. विस्मय
9. निर्वेद

परम्परानुसार ये 9 स्थायी भाव ही माने गए हैं। किन्तु इसके अतिरिक्त भी कुछ स्थायी भाव माने गए हैं, जिन्हें देखना उचित होगा।

वात्सल्य - विश्वनाथ द्वारा
भक्ति -रूप गोस्वामी द्वारा
सख्य/मैत्री -रुद्रट
उदात्त -भोज
प्रकृति भाव -रामचंद्र शुक्ल
जातीय चेतना -गुलाब राय
सृजन वृत्ति - मैकडूगल
आत्मवृत्ति - शशांक शुक्ल
सामूहिकता -मैकडूगल
तर्क वृत्ति -शशांक शुक्ल
गत्यात्मक चेतना -शशांक शुक्ल

मानवतावाद - शशांक शुक्ल

अंतराल मन -शशांक शुक्ल

अभ्यास प्रश्न 1

सही/गलत का चुनाव कीजिये।

1. नाट्यशास्त्र के रचयिता मम्मट हैं।
2. साहित्यदर्पण भरत मुनि की रचना है।
3. शांत रस की परिकल्पना अभिनवगुप्त ने की है।
4. नाट्यशास्त्र में 33 संचारी भावों की सूची मिलती है।
5. हृदयदर्पण भट्टनायक की रचना है।

2.6 रस का स्वरुप

रस के स्वरुप पर अभिनवगुप्त ने विधिवत विचार किया है।

तत्र लोकव्यवहरे कार्यकारणसहचारात्मकलिङ्गदर्शने स्थाय्यात्मपरचित्तवृत्त्यनुमानाभ्यास-पाटवादधुना तैरेवोद्यानकटाक्षवीक्षादिभिलौकिकों कारणत्वादिभुवमतिक्रान्तै विभावना-नुभावनासमुपरञ्जकत्वमात्रप्राणः, अत एवाऽलौकिकविभावादिव्यपदेशभाग्भिः, प्राच्य कारणादिरूपसंस्कारोपजीवनख्यापनांय विभावादिनामधेयव्यपदेश्यैर्भावाध्यायेऽपि वक्ष्यमाण- स्वरूप भै देर्गुणप्रधानपर्यायेण सामाजिकधियि सम्यग्योगं सम्बन्धमैकाग्र्यं वासादितवद्भिः, अलौकिकनिविघ्नसंवेदनात्मकचर्वणागोचरतां नीतोऽर्थः चर्व्यमाणर्तकसारो, न तु सिद्ध- स्वभावः, तात्कालिक एव, न तु चर्वणातिरिक्तकालावलम्बी स्थायिविलक्षण एव रसः ।

[हिन्दी अभिनंवभारती]

अभिनव ने स्थायी भाव के विलक्षण अर्थ में रस के स्वरुप को देखा है। बाद के समय में रस के स्वरुप पर आचार्य विश्वनाथ ने विचार किया। विश्वनाथ द्वारा निर्धारित रस का स्वरुप पर्याप्त लोकप्रिय हुआ है। यहाँ हम विश्वनाथ के रस स्वरुप को देखते हैं -

सत्त्वोद्रेकादखण्डस्वप्रकाशानन्दचिन्मयः
वेद्यान्तरस्पर्शशून्यो ब्रह्मास्वादसहोदरः । 1
लोकोत्तरचमत्कारप्राणः कैश्चित्प्रमातृभिः ।
स्वाकारवदभिन्नत्वेनायमास्वाद्यते रसः ।।।

साहित्यदर्पण ३.२.३

चित्त में सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में विशिष्ट संस्कारवान् सहृदय जन अखण्ड स्वप्रकाशानन्द, चिन्मय, अन्य सभी प्रकार के ज्ञान से विनिर्मुक्त, ब्रह्मास्वाद-सहोदर, लोकोत्तरमचत्कारप्राण रस का निज स्वरूप से अभिन्नतः आस्वादन करते हैं।

आचार्य विश्वनाथ के अनुसार-

१. रस आस्वादन का विषय है- किन्तु निज स्वरूप से अभिन्न रीति से, अर्थात् रस आस्वाद से अभिन्न है। रस आस्वाद-रूप है।

२. उसका आविर्भाव सतोगुण के उद्रेक की स्थिति में होता है।

३. वह अखण्ड है।

४. अन्य ज्ञान से रहित है।

५. स्वप्रकाशानन्द है।

६. चिन्मय है।

७. लोकोत्तरचमत्कारमय है। और

८. ब्रह्मास्वादसहोदर अर्थात् ब्रह्मास्वाद के अत्यधिक समान है।

उपर्युक्त उद्धरण की अधिकांश शब्दावली शास्त्रीय एवं पारिभाषिक है।

अभ्यास प्रश्न 2

टिप्पणी कीजिये।

ब्रह्मस्वादसहोदर

.....

.....

.....

अनुभाव

.....

.....

.....

2.7 रस का महत्व

प्रश्न है कि कविता और साहित्य में रस का महत्व हम किस प्रकार निर्धारित करें? हमने पढ़ा कि रस का सम्बन्ध भावों से है। सामान्य जीवन के भाव ही साहित्य और कविता में आकर रस बन जाते हैं। हम यह भी जानते हैं कि साहित्य भाव प्रधान है। एक सामान्य मनुष्य जिन परिस्थितियों में अपने भाव प्रकट करता है, वही रस के आधार बनते हैं। रस का सम्बन्ध हमारे संवेगों से है। प्रेम, करुणा, क्रोध, घृणा जैसे मनोभाव हम सब के भीतर रहता है किन्तु साहित्य में आकर यह भाव विशिष्ट बन जाया करता है। साहित्य में भाव के रस बनते ही हमारी वैयक्तिक सत्ता विगलित हो जाती है और हम सामान्य भाव भूमि से जुड़ जाते हैं। राम की पीड़ा हमारी पीड़ा बन जाती है। होरी की टूटन हमारी टूटन बन जाती है। साहित्य में रस का कार्य हमारी वृत्तियों को रेचित करना होता है। जब तक हमारी वृत्तियां रेचित न होंगी तब तक मनुष्यता सुरक्षित न रहेगी। रस यह कार्य करता है। इसलिए साहित्य में रस का स्थायी व आधारभूत महत्व है।

2.8 सारांश

रस सम्बन्धी इस इकाई का आपने अध्ययन किया। इस अध्ययन के उपरांत आपने जाना कि—

- रस की परिभाषा क्या है? विभाव, अनुभाव और व्यभिचारी भाव के संयोग से रस की निष्पत्ति होती है।
- रस का स्वरुप विशिष्ट होता है। रस ब्रह्मानन्द सहोदर कहा गया है। किन्तु रस ब्रह्म नहीं है, कविता का अपना आस्वाद है।
- रस के स्थायी भाव और व्यभिचारी भाव होते हैं। मनुष्य के चित्त में स्थित स्थायी भाव ही परिस्थितियों के अनुसार अलग -अलग रूप धारण कर लेते हैं। इन्हें ही स्थायी भाव कहा गया है।
- रस के तत्व भी उसकी पुष्टि में योग देते hainl विभाव, अनुभाव, आलम्बन आदि मिलकर ही रस को पूर्ण करते हैं।

2.9 शब्दावली

- विभाव- भाव के कारक , आलंबन और उद्दीपन
- आलंबन – जिस पर भाव टिके
- उद्दीपन – भाव को उद्दीप्त करने वाली स्थितियां
- व्यभिचारी- क्षणिक रूप में उत्पन्न होने वाले मनोभाव
- चिन्मय- हमेशा वर्तमान रहने वाला आनंद
- अखंड – जिस भाव का खंड न हो सके, अर्थात रस

2.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1- गलत
2- गलत
3- सही
4- सही
5- सही

2.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. रस सिद्धांत – डॉ नगेन्द्र
2. काव्य के तत्व – देवेन्द्र नाथ शर्मा

2.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. रस मीमांसा – रामचंद्र शुक्ल

2.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. रस के स्वरुप पर निबंध लिखिए।
2. रस के तत्वों पर प्रकाश डालें।

इकाई -3 अलंकार

इकाई की रुपरेखा

3.1 प्रस्तावना
3.2 उद्देश्य
3.3 अलंकर- अर्थ, व्युत्पत्ति एवं वर्ग
3.4 अलंकार सम्प्रदाय का इतिहास
3.5 अलंकार के भेद
    3.5.1 शब्दालंकार
    3.5.2 अर्थालंकार
3.6 अलंकार का महत्व
3.7 अलंकार – नए सन्दर्भ
    3.7.1 प्रशंसात्मक उक्तियाँ और अलंकार- स्त्री-पुरुष मनोविज्ञान
    3.7.2 उत्तर सत्य (पोस्ट ट्रुथ) के दौर में अलंकार
3.8 सारांश
3.9 शब्दावली
3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
3.13 निबंधात्मक प्रश्न

3.1 प्रस्तावना

अलंकार शब्द का अर्थ है आभूषण। कविता में आकर जो शब्द और अर्थ सौंदर्य की वृद्धि करें, उसे अलंकार कहते हैं। अलंकार शब्द दो शब्दों से बना है - अलम तथा कार। अंलम का अर्थ है भूषण तथा कार का अर्थ है कर्ता... अर्थ यह कि अलंकृत करने वाले कारक तत्वों को अलंकार कहते हैं।

3.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन नामक पुस्तक की यह तीसरी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- अलंकार का अर्थ जान सकेंगे।
- अलंकारों के भेदों से परिचित हो सकेंगे।
- काव्य में अलंकारों की भूमिका को समझ सकेंगे।
- अलंकारों के महत्व को जान सकेंगे।

3.3 अलंकर, अर्थ, व्युत्पत्ति एवं वर्ग

संस्कृत में 'अलंकार' की व्युत्पत्ति दो प्रकार से की है-(क) 'अलंकरोतीति अलंकारः' अर्थात जो आभूषित करता है, वह अलंकार है और (ख) 'अलंक्रियतेऽनेनेत्यलंकार' अर्थात जिसके द्वारा किसी की शोभा होती है, वह अलंकार है। सामान्यतः दोनों का सार एक ही है, किंतु सूक्ष्म दृष्टि से देखने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि प्रथम अर्थ में अलंकार काव्य का सहज अथवा स्वाभाविक धर्म है, पर दूसरे अर्थ में वह साधन मात्र है'। स्पष्ट है कि अलंकार का दो रूपों में बहुतायत प्रयोग हुआ है। एक, जिसका अलंकरण हो तथा दूसरा, जो अलंकृत करे'। हालांकि प्राचीन समय में आचार्य वामन ने सौंदर्यमलंकार: कहकर अलंकार को सौंदर्य का पर्याय मान लिया है'। यह अलंकार की व्यापक परिभाषा है'।

अलंकार के वर्ग

अलंकार को मुख्यतः शब्दालंकार और अर्थालंकार के रूप में विभक्त किया गया है। लेकिन इसके अतिरिक्त अलंकार के कुछ वर्ग भी किये गए '। अलंकार को मुख्यतः पांच वर्गों में विभक्त किया गया है :

1. सादृश्यमूलक अलंकार-उपमा, रूपक, संदेह, भ्रांतिमान, दृष्टांत आदि।
2. विरोधमूलक अलंकार-विरोधाभास, विभावना, असंगति, विषम, विशेषोक्ति आदि।
3. श्रृंखलामूलक अलंकार - कारणमाला, एकावली, सार आदि।
4. न्यायमूलक अलंकार-तर्कन्याय, काव्यन्याय, वाक्यन्याय और लोकन्यायमूलक।
5. गूढ़ार्थ प्रतीतिमूलक अलंकार-व्याजोक्त।

3.4 अलंकार संप्रदाय का इतिहास

अलंकार सम्बन्धी आचार्य व उनकी रचनाएँ

अलंकार सम्बन्धी सबसे पहला विचार भरत मुनि ने **नाट्यशास्त्र** नामक ग्रन्थ में किया था। भरत मुनि ने उपमा, दीपक, यमक, रूपक नामक चार अलंकार माने थे। किन्तु अलंकार संप्रदाय का प्रवर्तन आचार्य भामह से माना जाता है । भामह का **'काव्यालंकार'** (सातवी-आठवीं शती), दंडी का **'काव्यादर्श'** (सातवी-आठवीं शती), उद्भट का **'काव्यालंकार सारसंग्रह**, (आठवीं शती), वामन का **'काव्यालंकार सूत्र'** (नौवीं शती का पूर्वार्ध), रुद्रट का **'काव्यालंकार** (नौवीं शती का पूर्वार्ध), आनंदवर्धन का **'ध्वन्यालोक'** (नौवीं शती का उत्तरार्द्ध), कुंतक का 'वक्रोतिजीवितम्' (दसवीं शती का पूर्वार्ध), भोजराज का **'सरस्वती कंठाभरण'** (ग्यारहवीं शती का पूर्वार्ध), मम्मट का **'काव्यप्रकाश'** (ग्यारहवीं शती), रुय्यक का **'अलंकार सर्वस्व'** (बारहवीं शती का पूर्वार्ध), जयदेव का **'चंद्रालोक'** (तेरहवीं शती), विद्याधर की **'एकावली'** (चौदहवीं शती का पूर्वार्ध), विश्वनाथ का **'साहित्य दर्पण'** (चौदहवीं शती), केशव मिश्र का **'अलंकारशेखर'** (सोलहवीं शती का उत्तरार्ध), अप्पय दीक्षित का **'कुवलयानंद'** (सत्रहवीं शती।)

आदि संस्कृत काव्यशास्त्र के प्रमुख आलांकारिक ग्रन्थ हैं।

हिंदी के अलंकार ग्रन्थ

हिंदी के अलंकार ग्रंथों में प्रमुख केशवदास की 'कविप्रिया' (1601), जसवंत सिंह का 'भाषाभूषण' (1643), चिंतामणि का 'कविकुल कल्पतरु' (1650), मतिराम का 'ललितललाम' (1661-62), भूषण का 'शिवराजभूषण' (1673), कुलपति मिश्र का 'रसरहस्य' (1670), देव का 'भावविलास' तथा 'काव्यरसायन' (1689 व 1703), श्रीधर का 'भाषाभूषण' (1710), रसिक सुमति का 'अलंकार चंद्रोदय' (1728), रघुनाथ का 'रसिकमोहन' (1739), गोविंद का 'कर्णाभरण' (1740), दूलह का 'कविकुलकंठाभरण' (1743), भिखारीदास का 'काव्यनिर्णय' (1746), ऋषिनाथ की 'अलंकार मणिमंजरी' (1774), रामसिंह का 'अलंकार दर्पण' (1778), सेवादास का 'रघुनाथ अलंकार' (1783), पद्माकर का 'पद्माभरण' (1810), काशिराज की 'चित्रचंद्रिका' (1832), गिरधरदास का 'भारतीभूषण' (1833), लेखराज का 'गंगाभरण' (1878), लछिराम का 'रामचंद्रभूषण' (1890), गुलाबसिंह का 'वनिताभूषण' (1892) तथा गंगाधर का 'महेश्वरभूषण' (1895) आदि ग्रन्थ प्रमुख हैं।

आधुनिक काल के अलंकार ग्रन्थ

आधुनिक काल में मुरारिदान का 'जसवंत जसोभूषन' (1893), जगन्नाथ प्रसाद 'भानु' का 'काव्यप्रभाकर' (1909), भगवानदीन की 'अलंकारमंजूषा' (1916), अर्जुनदास केडिया का 'भारतीभूषण' (1930), बिहारीलाल भट्ट का 'साहित्यसागर' (1937), कन्हैयालाल पोद्दार की 'अलंकारमंजरी' (1945) तथा रामदहिन मिश्र का 'काव्यदर्पण' (1947) आदि प्रमुख अलंकार ग्रंथ हैं।

3.5 अलंकार के भेद

प्रिय विद्यार्थियों! आपने अलंकार शब्द के अर्थ, वर्ग और इतिहास के बारे में पढ़ा। अब हम अलंकारों के प्रमुख वर्गों तथा प्रमुख अलंकारों के बारे में अध्ययन करेंगे।

अलंकार दो प्रकार के माने गए हैं । शब्दालंकार और अर्थालंकार। जब ध्वनियों व शब्दों के प्रयोग से चमत्कार या सौंदर्य उत्पन्न आ जाता है, वहां शब्दालंकार होता है। तथा जहाँ अर्थ के माध्यम से काव्य में चमत्कार या सौंदर्य उत्पन्न हो जाए, वहां अर्थालंकार होता है। यहाँ हम कुछ प्रमुख शब्दालंकार और अर्थालंकार के बारे में अध्ययन करेंगे तथा उनकी विशेषताओं को जानेंगे।

3.5.1 शब्दालंकार

1. अनुप्रास-जिस अलंकार में वणी या व्यंजनों में किसी प्रकार की समानता हो, वह अनुप्रास है। इसके पांच भेद है-छेकानुप्रास, वृत्यनुप्रास, श्रुत्यनुप्रास, अंत्यानुप्रास और लाटानुप्रास।

छेकानुप्रास-जहाँ एक या अनेक वणों की क्रमानुसार आवृत्ति केवल एक बार हो अर्थात एक या अनेक वर्षों का प्रयोग केवल दो बार हो, जैसे 'रामराज्य अभिषेक सुनि, हिय हरषे नर-नारि।' इसमें 'राम' और 'राज्य' में 'र' का प्रयोग दो बार और इसी तरह 'हिय' और 'हरषे', 'नर' और 'नारि' में भी 'ह' और 'न' का प्रयोग दो बार हुआ है। इसलिए अनेक वणों की आवृत्ति एक बार होने से यहां छेकानुप्रास है।

वृत्यनुप्रास-जहाँ वृत्तियों (उपनागरिका, परुषा और कोमला) के अनुसार एक या अनेक वणों की आवृत्ति क्रमपूर्वक अनेक बार हो। इसका आधार वृत्तियां है। वणों की नियमानुसार 'योजना' को 'वृत्ति' कहते हैं। भिन्न-भिन्न रसों के वर्णन में भिन्न-भिन्न वर्ण योजना का प्रयोग होता है। वर्णयोजना की विभिन्नता के कारण वृत्ति के तीन प्रकार हैं-उपनागरिका, परुषा और कोमला। इन्हीं को क्रमशः वैदर्भी, गौड़ीय और पांचाली भी कहा जाता है। उदाहरण:

बिधन विदारन विरद बर, बारन, बदन, विकास। बर दे बहुत बड़े विसद, बाणी बुद्धि, बिलास।

श्रुत्यनुप्रास-एक ही उच्चारण स्थान से उच्चरित होने वाले वर्षों की जहाँ आवृत्ति हो, वहां 'श्रुत्यनुप्रास' होता है। एक-स्थानीय वणर्षों का एक पद में होना कविता में शक्ति और माधुर्य का उत्पादन करता है। उदाहरण: 'पाप पहार प्रगट भई सोई, भरी क्रोध जल जाइ न जोई।' यहां ओष्ठ्य (प) एवं तालव्य (ज) वर्णा की आवृत्ति के कारण श्रुत्यनुप्रास है।

अंत्यानुप्रास-छंद के अंतिम चरण में स्वर व्यंजन की समता अन्त्यानुप्रास कहलाती है। इसके भेद सर्वात्य, समांत्य विषयांत्य, समांत्य, सम- विषमांत्य और अतुकांत है जिनमें क्रमशः सभी चरणों में अंत के वर्षों में समानता, सम चरणों अर्थात दूसरे, चौथे चरणों में अन्त के वर्षों में समानता, विषम अर्थात प्रथम, तृतीय आदि चरणों में अंत के वणों में समानता तथा समविषमों में अंत्य को समानता पाई जाती है। उदाहरण:

या अनुरागी चित्त की, गति समुझे नहि कोय। ज्यों ज्यों भीजे स्याम रंग, त्यो त्यों उज्जलू होय।

यहां अंत में वर्णसमता है, अतः समान तुकांत के कारण यहां अंत्यानुप्रास है। निम्न पदों में भी चरणांत में वणों को समता के कारण अंयानुप्रास है। अन्य उदाहरण:

मानस मंदिर में सती, पति को प्रतिमा याप। जलती सी उस विरह मेंबनी आरती आप।

(मैथलीशरण गुप्त)

लाटानुप्रास-जहाँ समानार्थक शब्दों अथवा वाक्यों की आवृत्ति हो, परंतु अन्वय करने से उनका अर्थ बदल जाए, वहां 'लाटानुप्रास' होता है। लाट एक देश (दक्षिणी गुजरात) का नाम है। लाट देश में अधिक प्रचलित होने के कारण ही इस अलंकार का नाम लाटानुप्रास है। उदाहरण :

पराधीन को है नहीं स्वाभिमान सुख-स्वप्न। पराधीन जो है नहीं स्वाभिमान सुख-स्वप्न।

इस दोहे की दोनों पंक्तियां प्रायः समान है। शब्दार्थ की दृष्टि से उनमें भिन्नता नहीं है, किंतु अन्वय करने से दोनों पंक्तियों का अर्थ एक-दूसरे से भिन्न हो जाता है। पहली पंक्ति का अर्थ है- पराधीन मनुष्य को स्वाभिमानरूपी सुख स्वप्न प्राप्त नहीं होता अर्थात वह इससे वंचित रहता है। दूसरी पंक्ति का अर्थ है- जो मनुष्य पराधीन नहीं है उसे स्वाभिमान का सुख-स्वप्न प्राप्त है। पहली पंक्ति में 'नहीं' को स्वाभिमान के साथ लगाया गया है ओर दूसरी पंक्ति में 'नहीं' को 'पराधीन' के साथ। इस प्रकार यहां अर्थ-भेद का कारण केवल अन्वय हो है। इसी एक अन्य उदाहरण है:

'ओरन के जाचे कहा, नहिं जाच्यो सिवराज। औरन के जाचे कहा, जो जाच्यो सिवराज।'

यमक-जहाँ पद एक से हो लेकिन उनके अर्थ भिन्न हों, वहां यमक अलंकार होता है। इसमें भिन्नार्थक शब्दों या निरर्थक वर्ण-समूह की आवृत्ति होती है। आचार्य केशवदास ने यमक को अत्यंत सरल ढंग से पारिभाषित करते हुए कहा है-

पद एके नाना अरथ जिनसे जेतो वित्त। तामे ताको काढ़िये यमक माहि दे चित्त।

प्रमक अलंकार के आचार्यों ने मुख्यतः तीन भेद किए हैं- (1) आदिपद यमक, (२) मध्यपद यमक गोड़ा। इस अलंकार का नाम यमको इसीलिए रखा गाया है, क्योंकि इसमें एक जैसे दो शब्द प्रयुक्त होते हैं। निरर्थक वर्ण-समूह की अपेक्षा सार्थक शब्दों को आवृत्ति यमक के चमत्कार में ज्यादा वृद्धि करती है। सार्थक शब्दों वाले यमक को अभंगपद यमक कहते हैं, क्योंकि इसमें शब्दों को तोड़ना नहीं पड़ता। दूसरी ओर निरर्थक वर्ण-समूह स्वयं पूरे नहीं होते। वे केवल दूसरे शब्दों के खंडमात्र होते हैं। निरर्थक यमक को सभंगपद यमक कहते हैं। उदाहरण:

ऊंचे घोर मंदर के अंदर रहनवारी
ऊंचे घोर मंदर के अंदर रहाती हैं।
कंदमूल भोग करें कंदमूल भोग करें,
तो बेर खातीं ते वै तीन बेर खाती हैं।
भजन सिथिल अंग भूखन सिथिल अंग,
सिन डोलाती ते वे विजन डोलाती हैं।
न भनत सिवराज वीर तेरे त्रास,
न जड़ाती ते वै नगन जड़ाती हैं।

श्लेष-जहाँ एक शब्द से अभिधाशक्ति के द्वारा दो या दो से अधिक अर्थों की प्रतीति हो, वहां 'श्लेष' अलंकार होता है। 'श्लेष' शब्द 'श्लिष' धातु से बना है। श्लिष्ट का अर्थ है चिपकना,अथवा संयोग। इसमें एक शब्द के साथ अनेक अर्थों का संयोग रहता है अर्थात एक शब्द के साथ अनेक अवं लगे रहते हैं।

जिस शब्द के एक से अधिक अर्थ होते हैं, उसे श्लिष्ट कहते हैं। जहां ऐसे शब्दों का प्रयोग होता है, वहां 'शलेष' की स्थिति मानी जाती है। इस अलंकार के दो भेद है- (1) शब्दश्लेष और (2) अर्थश्लेष। जहाँ श्लेष मूलतः शब्दाश्रित रहता है, वहां 'शब्दश्लेष' होता है। 'अर्थश्लेष' में श्लिष्ट शब्दों के स्थान पर यदि उनके पर्याय शब्द रख दिए जाएं, तब भी श्लेष अलंकार ज्यों-का-त्यों बना रहता है। इसका विशेष संबंध अर्थ के साथ ही रहता है, शब्द के साथ नहीं। इसके दो भेद हैं-अभंग और सभंग। जहाँ संपूर्ण शब्द के दो अर्थ हों, वहां अभंगश्लेष होता है और जहाँ पूरे शब्द का अर्थ तो भिन्न हो, परंतु शब्द का 'विच्छेद' करने पर भिन्न अर्व हों, वहां सभंगश्लेष होता है। दंडी ने 'काव्यादर्श' में श्लेष को सभी अलंकारों का शोभाकारक माना है। इनके मत को हेमचंद्र तथा विश्वनाथ ने स्वीकार किया है। मम्मट ने रुद्रट के अनुसरण पर श्लेष का लक्षण दिया है-'वाच्यभेदेन भिन्ना यद् युगपद् भाषणस्पृशः (काव्यप्रकाश, 9.84) अर्थात अर्थभेद के कारण परस्पर भिन्न शब्दों का उच्चारण सारूप्य के कारण एकरूप प्रतीत होना।

हिंदी में केशवदास ने 'कविप्रिया' में 'श्लेष की परिभाषा निम्न प्रकार से की है- **'दोय तोनि अरु भांति बहु, जानत जामे अर्थ। श्लेष नाम तासों कहत, जिनको वृद्धि समर्थ, तिनमें एक अभिन्न पद, अपर भिन्न पद जानि'।** कुलपति ने 'रसरहस्य' में लक्षण तथा भंद मम्मट के आधार पर दिए हैं। जसवंत सिंह ने अप्पय दीक्षित का अनुसरण किया है। इन्हीं के समान भूषण, मतिराम आदि ने भी 'श्लेष' को अर्थालंकार के अंतर्गत स्वीकार किया है।

संस्कृत साहित्य में इस अलंकार को अधिक महत्व प्राप्त है। 'राघवपांडवीय' नामक एक महाकाव्य ही इस अलंकार में लिखा गया है। हिंदी साहित्य में भो इस अलंकार का यथेष्ट प्रयोग हुआ है। आधुनिक कवियों ने भी 'श्लेष' का सुंदर प्रयोग किया है,

जो रहीम गति दोप की, फूल कपूत गति साथ। बारे उजियारो लगे, बड़े अंधेरो होग।।

उपर्युक्त दोहे में 'बारे' शब्द क दो अर्थ है.. 'लड़कपन में' और 'जलाने पर'। इसी तरह 'ब शब्द के भी दो अर्थ है-'बड़ा होने पर' और 'वृड्ग्गा जाने पर'।

वक्रोक्ति-जहाँ किसी उक्ति का अर्थ वक्ता के अभिप्राय से भिन्न समझा जाए, यहां 'वक्रोक्ति' अलंकार होता है। भामह ने अपन 'काव्यालंकार' में इसे अधिक महत्य दिया है। उनके अनुसार 'नितांत' आदि शब्दों द्वारा शब्द और अर्थ की उक्ति ही वाणी-सौष्ठव नहीं हो जाता। कृतक ने 'वक्रोक्ति' को काव्य का जीवन ही माना है। रुद्रट ने 'काव्यालंकार' में इसे शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया है और इसके श्लेष तथा काकू, दो भेद भी माने हैं। रुय्यक तवा जयदेव को छोड़कर बाद के अन्य आचायों ने भी इसे शब्दालंकार माना है। हिंदी में इस अलंकार के संबंध में स्थिति स्पष्ट नहीं है। केशव, जसवंत सिंह भूषण तथा मतिराम आदि ने इसे अर्थालंकार के अंतर्गत रखा है। केशव ने 'यक्रोक्ति' को व्यंग्य का पर्यायवाची माना है- 'सूधी बात में बरनिय टेढों भाव' (क.प्र.) भूषण ने इसी भाव को 'अरथ लगाये और' कहकर व्यक्त किया है। वस्तुतः शब्दालंकार मानने वालों तथा अर्थालंकार मानने वालों के मतों में स्पष्ट अंतर नहीं है। कन्हैयालाल पोद्दार ने दोनों रूपों में इसे स्वीकार किया है। चिंतामणि, कुलपति, सोमनाथ तथा

दास ने इसे शब्दालंकार के रूप में स्वीकार किया है, पर इनके लक्षणों तथा उदाहरणों में अस्पष्टता है जिससे यह कहा नहीं जा सकता कि इन्होंने इसे शब्दालंकार समझा है या अर्थालंकार।

वक्रोक्ति अलंकार दो प्रकार का होता है- (1) श्लेष वक्रोक्ति और (2) काकु वक्रोक्ति।

श्लेष वक्रोक्ति-श्लेष वक्रोक्ति में किसी शब्द के अनेक अर्थ होने के कारण वक्ता के अभिप्रेत अर्थ में अन्य अर्थ ग्रहण किया जाता है। जैसे इस उदाहरण में राधा ने 'घनश्याम' का दूसरा अर्थ 'बादल' लिया है, यथा-

को तुम ? हैं घनश्याम हम, तो बरसो किंत जाय। नहिं, मनमोहन हैं प्रिये ! फिर क्यों पकरत पाय।

काकु-वक्रोक्ति-यहां कंठ-ध्वनि अर्थात बोलने के लहजे के द्वारा दूसरा अर्थ कल्पित किया जाता है, जैसे-

कह कपि धर्मशीलता तोरी। हमहु सुनी कृत परतिय चोरी।

धर्मशीलता तव जग जागी। पावा दरस हमहुं बड़भागी।

जब रावण अपनी धर्मशीलता का वर्णन करता है, तब अंगद रावण को कहता है-तुम्हारी धर्मशीलता प्रसिद्ध है कि तूने पर-स्त्री (सीता) का हरण किया है। हम बड़े भाग्यशाली हैं जिन्हें तुम्हारे दर्शन प्राप्त हुए हैं। यह शब्द अंगद ने कंठध्वनि को विकृत करके (लहजे को बदलकर) कहे हैं, जिसका अर्थ यह निकलता है कि महापापी हो। इसलिए यहां काकु-वक्रोक्ति है।

3.5.2 अर्थालंकार

प्रतीप

जहां उगमान को उपमेय की अपेक्षा घटाकर बताया जाए, वहां 'प्रतीप' अलंकार होता है। 'प्रतीप ' शब्द का अर्थ है-विपरीत। रुद्रट ने इसे स्वरूप साम्यवर्ग में स्वीकार किया है। मम्मट के अनुसार, इस अलंकार में या तो उपमान का निषेध होता है या तिरस्कार करने के लिए उपमान का उपमेय रूप से वर्णन किया जाता है। जयदेव ने उपमान की हीनता का उल्लेख किया है और अप्पय दीक्षित ने इसमें केवल उपमान की उपमेय रूप में कल्पना करना माना है। विश्वनाथ ने कहा है, उपमान का व्यर्थ कहा जाना भी प्रतीप है। भिखारीदास ने मम्मटके आधार पर लक्षण दिया है-'सो प्रतीत उपमेई को जब कीजै उपमान। के काहू विधि वयं को करे अनादर ठोन'।

रूपक : जहां सादृश्य के कारण उपमेय पर उपमान का आरोप किया जाए, वहां रूपक अलंकार होता है। जैसे चंद्रमुखी में रूपक है।

भामह ने रूपक का निरूपण उपमा से पूर्व किया है। उनके मत में रूपक की दो विशेषताएं हैं-उपमेय की उपमान से एकरूपता तथा गुणों की समता। दंडी के अनुसार, गुण, क्रिया, द्रव्य किसी भी प्रकार से उद्भूत सादृश्य का नाम उपमा है और जब उपमान उपमेय का परस्पर भेद तिरोभूत हो जाता है तो उस सादृश्य को रूपक कह देते हैं। वामन ने रूपक को उपमा का प्रपंच मानते हुए इसका लक्षण किया है कि उपमान के साथ उपमेय के गुण का साम्य होने से उपमेय में उपमान के अभेद का आरोप ही रूपक है।

उपमा : अर्थालंकारों में उपमा सबसे प्रधान है।

उपमा को अर्थालंकारों का मूल माना जाता है। यह अलंकार इतना व्यापक है कि इसका कोई-न-कोई अंग प्रायः सब अलंकारों में देखा जाता है। जहां पर किसी वस्तु की रूप-गुण-संबंधी विशेषता स्पष्ट करने के लिए, दूसरी परिचित वस्तु से, जिसमें वे विशेषताएं अधिक प्रत्यक्ष हैं, उसकी समता कही जाती है वहां उपमा अलंकार होता है। उपमा के चार अंग हैं-उपमेय

उपमान, वाचक और धर्म उपकोष्ठता तथा महत्व के बारे में सभी आचार्य एकमत है। यही कारण है कि प्रायः सभी आचायी ने अकारी में उपमा को सर्वप्रथम स्वीकार किया है। राजशेखर के अनुसार अलंकार शिरोरलं सर्वस्वं का। उपमा कविर्यशस्य मातिमतिर्म। अर्थात उपमा संपूर्ण अलंकारों में शिरोभूषण के समान काव्य की संपत्ति है और कविवंश की माता के समान है। हिंदी में केशवदास की 'कविप्रिया' को छोड़कर प्रायः सभी प्रमुख अलंकार पंचों में उपमा को प्रथम स्थान मिला है।

काव्यशास्त्र के अंतर्गत सर्वप्रथम भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में उपमा की व्याख्या की है- **'यत्किचित्काव्यबन्धेषु सादृश्येनोपमीयते।** उपमा नाम विशेया गुणाकृतिसमाश्रया' अर्थात काव्यबंधों में सादृश्य के आधार पर गुण-आकृति के आश्रय से जो तुलना की जाती है, यह उपमा कहलाती है। मम्मट ने भामह के 'विरुद्ध' शब्द से प्रेरणा ग्रहण कर भेद होने पर भी समान धर्म से संबद्ध होना उपमा कहा है। मम्मट ने सादृश्य के स्थान पर 'साधर्म्य' का प्रयोग किया है। वस्तुतः 'साधम्र्म्य' में आचार्य का ध्यान उपमान तथा उपमेय के साधारण धर्म की ओर है और 'सादृश्य' उनका काव्यात्मक गुण है। जयदेव की परिभाषा इस प्रकार है-' **उपमा यत्र सादृश्य लक्ष्मीरुल्लसति द्वयोः'** (चंद्रालोक 5/11) अर्थात दोनों उपमान-उपमेय में सौंदर्यमूलक सादृश्य होता है। हिंदी में केशव ने उपमा की परिभाषा इस प्रकार दी है, 'रूप शील गुन होंहि सम, जो क्यों हूं अनुसार' (कवि., 14/1)1 मतिराम और भूषण के लक्षण पर बाद के आचार्यों का प्रभाव है- 'जहां बरनिये दुहनि की सम छवि को उल्लास'। जहां दुहुन को देखिए, शोभा बनत समान'। कुलपति के 'रसरहस्य' में उपमा का लक्षण अधिक स्पष्ट और वैज्ञानिक है- **'शब्द अर्थ समता कहै, दोउन की जेहि ठौर। नहिं कलपित उपमान जहं, सो उपमा सिरमौर।'**

अतिशयोक्ति : जहां किसी विषय का बढ़ा-चढ़ाकर वर्णन किया जाए, वहां 'अतिशयोक्ति अलंकार' होता है। आलंकारिकों ने अतिशयोक्ति को अलंकार के मूल में मानकर विशेष महत्व दिया है। प्रायः प्रत्येक अलंकार के मूल में अतिशयोक्ति (चमत्कार तथा उत्कर्ष) रहती है। आचार्य भामह ने लोक सीमा का अतिक्रमण करने वाली उक्ति के रूप में इसे माना है और दंडी ने **'विवक्षा** या **विशेषस्य लोकसीमातिवर्तिनी'** कहा है। वामन ने इसे संभाव्य धर्म और उसके उत्कर्ष की कल्पना को लगे ध्व अतिशयोक्ति माना है।

हिंदी के आचार्यों ने अतिशयोक्ति का स्वतंत्र लक्षण न देकर उसके विभिन्न भेदों के लक्षण- उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इस दृष्टि से उन्होंने दो परंपराओं का अनुसरण किया है। रीति काल में चिंतामणि और कुलपति मिश्र ने मम्मट के अनुसार चार भेद किए हैं- 'अतिशयोक्ति है चारि विधि, मम्मट कथन प्रकार' (कविकुल कल्पतरु) और 'अति अभेदजिय राखि जहं, नहिं कहिए उपमेय। उपमाने कति जहां अतिशय

उक्ति सो भेद। कहिये और भाँति पनि जो यो तो यों होय। आगे-पीछे बरनिये, कारन का जोय' (रसरहस्य)। अधिकांश विवेचकों ने सात भेद भेदकातिशयोक्ति माने हैं-1. रूपकातिशयोक्ति, 2. 3. संबंधातिशयोक्ति, 4. 5. अक्रमातिशयोक्ति, 6. असंबंधातिशयोक्ति, चपलातिशयोक्ति, 7. अत्यन्तातिशयोक्ति।

अतिशयोक्ति अलंकार का एक उदाहरण इस प्रकार है-प्रसाद के 'आंसू" में।

बांधा था विधु को किसने इन काली जंजीरों से मणिवाले फणियों का मुख क्यों भरा हुआ हीरों से।

यहां किसी नारी के सौंदर्य एवं श्रृंगार का अतिशय वर्णन करते हुए कवि ने मुख को चंद्रमा और बालों को सर्प कहा है। नारी की मोतियों से भरी हुई मांग को हीरों से भरी हुई समझते हुए आश्चर्य प्रकट किया है कि सर्प तो मणिधारी होता है फिर क्यों उसका मुख हीरों से भरा है? यहां पर केवल पमानों का उल्लेख हुआ है। 'विधु', 'फणी, हीरे आदि सभी उपमान हैं, जिन्होंने उपमेय मुख, बाल और मोती सबको अपने में विलीन कर लिया है।

संदेह अलंकार : सादृश्य के कारण जब किसी वस्तु को देखकर यह निश्चय न हो सके कि यह वह वस्तु है अथवा अन्य वस्तु, अर्थात यह है या वह है।

इस प्रकार की दुविधा बनी रहे तब 'संदेह' अलंकार होता है। भागह ने इसे संदेह कहा है और दंडी ने इसे उपना के अंतर्गत स्वीकार किया है। इनका अनुसरण उद्भट और मम्मट ने भी किया है। राय्यक, वामन, विद्याधर तथा विश्यनाथ ने पही नाम स्वीकार किया है। इस अलंकार में प्रायः कि, क्या, किया भी किधी, के, जैसे, अथवा, या' आदि शब्दों द्वारा संदेह को दूर करते हुए कहा प्रकट किया जाता है।

"तारे आसमान के हैं आए मेहमान बन या कि कमला ही आज आके मुसकाई है।
चमक रही है चपला ही एक साथ या कि केशों में निशा के मुकुतावली सजाई है।

भ्रांतिमान अलंकार-सादृश्य के कारण जब किसी वस्तु को अन्य समझ लिया जाए और इस प्रकार की भूल का चमत्कारपूर्ण वर्णन हो तब 'भ्रांतिमान' अलंकार होता है। भ्रांतिमान अलंकार के लिए तीन बातों का होना आवश्यक है-। सादृश्य, 2. मिथ्या ज्ञान, 3. चमत्कारपूर्ण वर्णन। सर्वप्रथम रुद्रट ने उपमा अलंकारों में स्वीकार किया है। मम्मट ने इसे 'प्रस्तुत के दर्शन में, अप्रस्तुत के साथ उसके सादृश्य के कारण, जहां अप्रस्तुत (उपमान) की प्रतीति निरूपित की जाए' माना है। परंतु भ्रांति के सौंदर्य के लिए इसमें सादृश्य के साथ कवि प्रतिभा का हाथ भी होना चाहिए। जैसे-

कुसुम जानि शुक-चोंच पर भ्रमर गिरयो मंडराय। सोहू तिहि चाहत धरन जामुन फल ठहराय।

दृष्टांत अलंकार - जहां उपमेय और उपमान संबंधी वाक्यों में धर्म-विभिन्नता होते हुए भी परस्पर भावसाम्य हो वहां दृष्टांत अलंकार होता है। इस भावसमता को विंय प्रतिबिंब भी कहते हैं। जैसे- संगति के अनुसार ही, सब के बनत सुभाय। 14. साँभर में जो कुछ परे, निरो लोन ह्वे जाय। यहां दोहे की प्रथम पंक्ति उपमेय वाक्य है और दूसरी उपमान-वाक्य। दोनों वाक्यों के धर्म- 'स्वभाव ने बनना' और 'नमक बन जाना'- एक-दूसरे से भिन्न है। धर्म भिन्नता होते हुए भी दोनों में भावसाम्य भासित होता है। अतः यहां दृष्टांत अलंकार है।

निदर्शना अलंकार- जहां दो वाक्यों-उपमेय वाक्य और उपमान वाक्य में साधारण धर्म भिन्न होते हुए भी फल सादृश्य के कारण उनमें अभेद स्थापित किया जाता है, वहां निदर्शना अलंकार होता है। दृष्टांत में समानधर्मा पदार्थों का बिंब प्रतिविंव भाव रहता है, इसमें यह प्रतिबिंब नहीं है। विश्वनाथ ने परिभाषा को अधिक विस्तार दिया है-'वस्तुओं के संभव अथवा असंभव संबंध में जहां विबप्रतिबिंब भाव निहित हों।' इसमें दो परस्पर भिन्न वाक्यों में भावसाम्य के कारण एकता का आरोप किया जाता है। इसमें अधिकतर जो, सो, जे, ते क आदि संबंधसूचक शब्द आते हैं। जैसे-

जंग जीत जे चाहत हैं, तो सों बैर बढ़ाय
जीबे की इच्छा करत, कालकूट ते खाय।

अन्योक्ति अलंकार: जहां प्रस्तुत के द्वारा अप्रस्तुत अर्थ को सूचित किया जाए, यह अन्योक्ति अलंकार होता है। इसे भामह और सम्थर ने 'अप्रस्तुतप्रशंसा' कहा है और दंडी ने 'अप्रस्तुत द्वारा प्रस्तुत के व्यंग्य रूप में कथन' कहा। टूट ने इसे 'अन्योक्ति' नाम देकर स्वतंत्र अलंकारों स्थान दिया। रामदहिन मिश्र ने 'समासोक्ति' को हो हिंदी संसार में 'अन्योक्ति' के नाम से प्रसिद्ध माना। हिंदी के आदि कवियों-खुसरों की मुर्कारयों और पहेलियों तथा चंदबरदाई के काव्यों से लेकर कबीर, दादू, सुंदरदास की उलटवासियों और वाणियों, जावगी के अलंकार प्रयोगों, सूर और ब्रजभाषा के कवियों के भ्रमरगीत और दृष्टिकूटों, तुलसी की दोहावली और रामचरितमानस में अन्योक्तियां भरी पड़ी हैं। रामचंद्र शुक्ल ने अन्योक्ति का उल्लेख अन्योक्ति पद्धति (शैली) नाम से किया है। प्रसाद की 'कामायनी' में भी इसका प्रयोग किया गया है। छायावाद के कवियों प्रसाद, पंत, निराला और महादेवी की रचनाओं में अन्योक्ति की भरमार है। नई कविता, प्रयोगवाद में भी अन्योक्यिों का विस्तृत प्रयोग दिखाई देता है।

समासोक्ति अलंकार: जहां प्रस्तुत के कथन में अप्रस्तुत व्यवहार का समारोप है, वहां समासोक्ति अलंकार होता है। इस अलंकार में एक अर्थ (प्रस्तुतार्थ) द्वारा दो अर्थों-प्रस्तुत और अप्रस्तुत का ज्ञान होता है। इसलिए इसके मूल में श्लेष रहता है। समासोक्ति अभिव्यंजना में तीव्रता लाती है। 'कामायनी' के संबंध में कहा जाता है कि इस महाकाव्य में मनु ने श्रद्धा और को कथा के माध्यम से मानव चेतना का खास भी कहा है।

प्रस्तुतांकर अलंकार- जहां प्रस्तुत से प्रस्तुत का हो. वहां प्रस्तुतांकुर अलंकार होता है। प्रस्तुत के से तात्पर्य है चीन रूप प्रस्तुत से ही फूट विकलने वाला प्रस्तुत प्ररोह। इसमें बाच्य और व्यंग्य एनों अर्थ प्रस्तुत होते हैं। जैसे-

रे धमर! मालती के रहते, कांटों भरी केतकी पर क्यों उड़ते हो?

कोई नायिका मालती लता से उड़कर केतकी (केवड़ा) की ओर जाते हुए भ्रमर को लक्ष्य करके यह कहती है। नायिका व्यंजना द्वारा अपने प्रियतम हमें भी यह कहती है कि मालती जैसी सर्वगुण संपन्न मेरे रहते हुए आप बुराइयों की खान वारांगना के पास क्यों जाया करते हो?

आक्षेप अलंकार : जहां इच्छित या अपेक्षित बस्तु को कुछ विशेषता बतलाने के लिए निषेध-सा किया जाता है, वहां आक्षेप अलंकार होता है। आक्षेप शब्द के अनेक अर्थ है-अपवाद, कटूक्ति, व्यंग्य, निषेध इत्यादि। जैसे-

कवि न होउं नहिं चतुर कहावों,
मति अनुरूप राम गुन गार्यो।
हॉ न काहति तुम जानिहाँ, लाल बाल की बात।
अँसुवन द्रगन परत है, होन चहत उतपात।

पर्याय जत अलंकार: पर्यायोक्ति का अर्थ है अन्य प्रातर से कचन। किसी पदार्थ का जिस प्रकार से पन किया जाता है यदि उसे छोड़कर अन्य तरी से कथन किया जाए तो पर्यायोक्ति होतो है। उदाहरण -

देखन निस मृग बिहंग तरु, फिरे बहोरि बहोरि। निरखि निरखि रघुबीर छवि, बाड़ी प्रीति न थोरि।

विरोधाभास अलंकार - जहां वास्तविक विरोध न होकर विरोध का आभास मात्र हो, वहां विरोधाभास अलंकार होता है। विरोधमूलक अर्थालंकार, प्राचीनकाल से ही स्वीकृत चला आने वाला अलंकार है। उदाहरण -

आग हूं जिससे दुलकते बिंदु हिमजाल के
शून्य हूं जिसमें बिछे हैं पांवड़े पल के।

यहां द्रव्य और क्रिया में विरोध है।

विभावना अलंकार- जहां पर किसी रूप में कारण जाए, वहां पर विभावना अलंकार होता है।व किया का अर्थ है कल्पना अर्थात विदग्धतापूर्वक प्रसिद्ध कारण के अभाव में कार्य की उत्पत्ति को कल्पना। जैसे-

चुभते ही तेरा अरुण बान बहते कन कन से फूट-फूट मधु के निर्झर से सजल गान

यहां वाण के चुभने से गान की उत्पत्ति का वर्णन हुआ है। गानरूपी कार्य के लिए बाण लगना विपरीत कारण है।

विशेषोक्ति अलंकार –

जहां पर कारण के पूर्व होने पर भी कार्य संपन्न नहीं होता यहां विशेषोक्ति है। यह अलंकार विभावना के विपरीत है। विशेषोक्ति का अर्थ है-विशेष बात का कथन। प्रत्येक कार्य का संसार में कोई न कोई कारण होता है। जब बिना कारण के कोई बात हो जाए तो इसे विशेष मामला मानना चाहिए। जैसे-

परम प्रबल रिपु सीस पर, तदपि न मन कहु त्रास।

सिर पर प्रबल शत्रु खड़ा है, भय का कारण है। फिर भी कोई भय नहीं यह विशेषोक्ति है।

असंगति अलंकार - जहां कारण ओर कार्य दोनों के भिन्न-भिन्न स्थानों में होने का वर्णन पाया जाए, यहां 'असंगति' होती है। असंगति का अर्थ है-संगलि का अभाव। असंगति अलंकार में कारण और कार्य की स्वाभाविक संगति का त्याग होता है। जैसे-

उर में बिजली-सी चमकी, नेनों में जल भर आया।

क्या जानें आज अचानक किस स्मृति का घन घिर आया।

यहां कारण और कार्य दोनों के होने के स्थान

भिन्न-भिन्न है। बिजली का चमकना हदय में हुआ है, पर जल भिन्न स्थान नेत्रों में आया है।

विषम अलंकार। जहां परस्पर मेल न खाली हुई यस्तु अवा पटनाओं के संबंध का वर्णन

यहां विषम अलंकार होता है। जैसे-

कई मुभिज कहै सिंधु अपारा।

सोखंड सुयश सकल संसारा।

घड़े से पैदा हुए अगस्त्य मुनि और समुद्र दोनों परस्पर मेल नहीं खाते पर अगस्त्य ने पूरा समुद्र पी लिया। यहाँ इन दोनों के संबंध का वर्णन है। पारस्परिक संबंध की दृष्टि से यह संबंध सर्वचा अयुक्त है। इसलिए यही विषम अलंकार है।

कारणमाला अलंकार- जहां ऐसा वर्णन है कि कारण से उत्पन कार्य आगे कारण बनता जाए, या कार्य का जो कारण है, यह कार्य होता जाए, यहां पर कारणमाला अलंकार होता है। यह श्रृंखलामूलक अलंकार है। रामचरितमानस में है-

बिनु विस्वास भगति नहिं, तेहि बिनु द्रवहिन राम।

राम कृपा बिनु सपनेहूं, जीव न लह विश्राम।

एकावली अलंकार - जहां वस्तुओं का क्रम से श्रृंखलाबद्ध वर्णन इरा प्रकार होता है कि बाद में कथित वस्तु आगे के लिए आधार की कड़ी बनती जाती है, यहां एकावली होती है। एकावली का तात्पर्य है गले का हार। हार में एक के बाद दूसरा मोती और फिर तीसरा इसी तरह क्रम चलता है, यही बात एकावली अलंकार पर लागू होती है। जैसे-

मानुष वह जो हो गुनी, गुनी जो कोबिद रूप। कोविद जो कविपद लहे, कवि जो उक्ति अनूप।

इसमें पूर्वकथित वस्तू 'मानुष' तथा उत्तरकथित वरतु 'गुण' का विशेष्य-विशेषण भाव का संबंध है। आगे चलकर 'गुणी' विशेषण विशेष्य बन जाता है और इसी तरह श्रृंखला सी बन जाती है।

परिवृत्ति अलंकार- जहां कोई वस्तु देकर बदले में किसी वस्तु के लेने का चमत्कारपूर्ण वर्णन हो, यहां 'परिवृत्ति' अलंकार होता है।

परिवृत्ति दो प्रकार की होती है-राम और विषम। सम परिवृत्ति उत्तम वस्तु देकर उत्तम यात् का ग्रहण करना और विषम परिवृति-दम मिलेन से उत्तम का विनिमय साथ परिवृत्ति उदाहरण है-

लतिकाओं को नृत्यकला की शिक्षा देकर धीर समीर।

मधुर-मथुर ले रहा जहां पर सुमन-गंध उनका गंभीर।

यहां वायु द्वारा लताओं को नृत्य से कला की शिक्षा देकर फूलों की मधुर गंध लेने का वर्णन है। नृत्यकला की शिक्षा उत्तम वस्तु है। उत्तम वस्तु के बदले में उत्तम वस्तु मधुर गंथ ही ली गई है।

परिसंख्या अलंकार- जहां किसी वस्तु का उसके वास्तविक स्थान या अन्य स्थानों से लोप कर किसी विशिष्ट स्थान पर आरोप किया जाए जिससे किसी विशेषता का प्रकाश हो तो यहां परिसंख्या अलंकार होता है।

काव्यलिंग अलंकार - जहां युक्ति द्वारा कारण देकर वाक्य के अर्थ का समर्थन किया जाता है, वहां काव्यलिंग अलंकार होता है। काव्यलिंग का अर्थ है-काव्य का चिह्न अर्थात कारण, दूसरे शब्दों में काव्य में आए हुए अर्थ का कारण। जैसे-

वृथा बिरस बातें करति लेति न हरि को नाम। यह न आचरज हे कडू रसना तेरो नाम ।।

अर्थातरन्यास अलंकार- जहां सामान्य कथन का विशेष के द्वारा तथा विशेष का सामान्य के द्वारा समर्थन होता है, यहां पर अर्थातरन्यास होता है। इस अलंकार में एक बात की पुष्टि के लिए दूसरी बात रखी जाती है।

सामान्य विशेष के साधम्यं से- **'रहिमन नीच कुसंग सों, लगत कलंक न काहि। दूध कलारी कर लखे, को मद जाने नाहि।'**

अभ्यास प्रश्न)1

सही/गलत का चुनाव कीजिये।

1. **उपमा शब्दालंकार है।**
2. श्लेष अर्थालंकार है।
3. वक्रोक्ति अर्थालंकार है।
4. कवि प्रिया केशवदास की रचना है।
5. नाट्यशास्त्र के रचयिता भरत मुनि हैं।
6. भामह के ग्रन्थ का नाम काव्यालंकार है।

3.6 अलंकार का महत्व

कविता में अलंकारों का क्या महत्व है? यह प्रश्न महत्वपूर्ण है। कविता का कार्य सौंदर्य की वृद्धि करना है...हमारी बद्ध दृष्टि को संकुचित दायरे से निकालकर कविता व्यापक धरातल पर पहुँचाती है। अलंकार यहाँ हमारी मदद करते हैं। अलंकार व्यापक रूप में सौंदर्य स्थल ही हैं। यह केवल बाह्य रूप में ही नहीं आते, अपितु आंतरिक रूप में भी आते हैं। उपमा, रूपक, अनुप्रास जैसे अलंकार केवल सजावट के लिए नहीं आते अपितु ये सौंदर्य स्थल भी हैं। इस प्रकार अलंकार कविता को सार्थक बनाने में अपना योगदान देते हैं ।

3.7 अलंकार नए सन्दर्भ

3.7.1 प्रशंसात्मक उक्तियाँ और अलंकार-स्त्री-पुरुष मनोविज्ञान

प्रशंसात्मक उक्तियों को 'मनुष्य मन/चेतना पर पड़े प्रभाव की अभिव्यक्ति' कहा जा सकता। हम किसी की प्रशंसा तभी करते हैं, जब उसके व्यक्तित्व-कृतित्व का प्रभाव हमारी चेतना पर उतर आता है। यहां

हम छल या झूठे आचरण की बात नहीं कर रहे हैं, जिनका ध्येय चापलूसी या स्वार्थ होता है। यहां हम सात्विक मन से उपजी प्रशंसात्मक उक्तियों को ही ले रहे हैं, जिनका ध्येय आलोच्य व्यक्तित्व के गुणों को उभारना होता है। वस्तुतः प्रशंसा किसी महत व्यक्तित्व का, उसके कर्मों का स्वीकार है और अपने व्यक्तित्व का संकोच है। अहंकारी व्यक्ति किसी दूसरे व्यक्तित्व की प्रशंसा नहीं कर पाता, क्योंकि वह अपने व्यक्तित्व में संकोच नहीं ला पाता। हम तभी किसी को बड़ा मान पाते हैं, जब अपने को विनत भाव में देखने के लिए तैयार हों। ऐसा नहीं है कि आलोच्य व्यक्तित्व और स्वयं के व्यक्तित्व में तुलनात्मक विश्लेषण ही हो या उनमें सापेक्षता ही हो; क्योंकि कई बार आलोच्य व्यक्तित्व देश-काल की सीमाओं में दूर के ठहरते हैं अर्थात दो व्यक्तित्व में देश- काल की पर्याप्त दूरी उन्हें ऐसा करने से रोकती है, बावजूद प्रभाव में एक रेखीय मनोवृत्ति कहीं- न- कहीं जुड़ जाए तो उसमें क्या आश्चर्य! मान लीजिए हम कालिदास के प्रशंसक हैं तो उसका आधार महाकवि की सौंदर्य चेतना और उसका रचना-शिल्प ही होगा... और उसका हमारी चेतना पर बड़ा प्रभाव ही होगा।इसलिए प्रशंसात्मक उक्ति के लिए समकालीनता कोई अनिवार्य तत्व नहीं है; हां किन्तु तब भी समानधर्मिता का तत्व अनिवार्य होता ही है।

प्रशंसात्मक उक्ति के लिए पात्रता आधारभूत तत्व है। हम तब तक किसी की प्रशंसा नहीं कर सकते, जब तक कि उसमें पात्रता नहीं होती। यह पात्रता व्यक्तित्व की रचनात्मक क्षमता और समर्पित व्यक्तित्व दोनों स्तरों पर होता है। एक ऊंचा उठा हुआ व्यक्ति ही पर्वत की ऊंचाई का अनुमान कर सकता है, नहीं तो पहाड़ उसके लिए एक चट्टान मात्र है। समर्पण करता व्यक्तित्व यदि रचनात्मक चेतना संयुक्त हो जाए तो वह महान रचना की दृष्टि कर सकता है। प्रारंभ में समर्पण का आलंबन एक व्यक्ति -विशेष होता है, किंतु क्रमशः उसके आलंबन- केंद्र जातीयता और परंपराएं बनती चली जाती है। जब तक आलंबन केंद्र कोई व्यक्ति बना रहता है, तब तक ग्रहण करने का तत्व क्रियाशीलत (प्रमुखत:) रहता है, किंतु जैसे ही परंपरा और जातीय चेतना आलंबन बन जाते हैं; तब उसमें ग्रहण के साथ ही रचाव भी शामिल हो जाता है। परंपरा के प्रति समर्पण रचनात्मक बनाता है और व्यक्ति के प्रति समर्पण विनीत बनाता है। इसीलिए एक उदारमना व्यक्तित्व विनीत भी होता है और रचनात्मक भी।

रस में आस्वाद (**आस्वाद्यते इति रस:)** है और अलंकार ने प्रभाव। चूंकि अलंकार में प्रभाव है इसलिए उसमें वर्तमान अवस्था से वृद्धि का सचेतन प्रयास शामिल होता है। रस में सिद्ध हो चुकी अवस्था का आस्वाद है , किंतु अलंकार में वर्तमान स्थिति को बढ़ाकर देखने का भाव प्रबल होता है; इसीलिए तो अलंकार में अतिशयोक्ति का तत्व केंद्रीय रूप में अंतर्भूत होता है। उपमा, वक्रोक्ति, रूपक, दृष्टांत, दीपक, उत्प्रेक्षा... अलंकार में किसी तत्व को बढ़ाकर देखने का भाव ही होता है। बाद में तो अतिशयोक्ति नामक एक अलंकार ही मान लिया गया बल्कि यह कहें कि मुख्य अलंकार मान लिया ...या सही ढंग से कहें तो यह कि अलंकार का मूल तत्व मान लिया गया। तो कहने का अर्थ यह है कि अलंकार में वृद्धि का भाव होता है... एक तरफ से 'प्रभावात्मक आग्रह' होता है। ध्यान दें, रस में प्रभाव अंदर उतर चुका है, ग्रहण करने की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है। किसी सुंदर स्त्री को देखने पर उपजे मन

के ख्याल, भाव और उसके प्रभाव अलंकार को जन्म देंगे, किन्तु वे रस नहीं कहे जाएंगे। किसी स्त्री की सुंदरता जब आगे चलकर आश्रय के व्यक्तित्व व चेतना पर स्थाई प्रभाव ग्रहण कर लेंगे और वह रति तक चले जाएंगे... तब रस की प्रक्रिया संपन्न होगी। इस ढंग से देखें तो अलंकार, रस का पूर्ववर्ती है। साहित्य शास्त्र के विस्तार- क्रम में अलंकार संप्रदाय भले ही रस संप्रदाय के बाद स्वीकार किया गया है, किंतु प्रक्रिया के स्तर पर वह रस के पहले आता है। अलंकार 'प्रभावमूलक चेतना की अभिव्यक्ति या विभिन्न द्वार हैं। अलंकार की इसी विशेषता के कारण प्रशंसात्मक उक्तियों में इसका सर्वाधिक व्यवहार होता है। रस वर्तमान का स्वीकार है और अलंकार वर्तमान का निषेध। वर्तमान का निषेध इस रूप में कि इसमें वर्तमान की स्थिति से असंतुष्टि व्यक्त की जाती है। किसी स्त्री की सुंदरता ही पर्याप्त नहीं है, बल्कि उसका श्रृंगार भी महत्वपूर्ण हैं।

काव्य की सुंदरता केवल भाव की प्राकृतिक दशा से ही समुन्नत नहीं होती, बल्कि अलंकार की सजावट से, उक्ति-चमत्कार से भी होती है। संभवतः इसी मनोविज्ञान के आधार पर ' प्रशंसात्मक औदात्य' की कल्पना की गई है। स्त्री-पुरुष या प्रेमी-प्रेमिका की प्रशंसात्मक उक्तियों के लिए बाद के दिनों में अलंकार एक उपजीव्य बना हो तो कोई आश्चर्य नहीं।

क्या प्रशंसा और स्तुति को एक साथ रख कर देखा जा सकता है? प्रशंसा में भी प्रभाव है और स्तुति में भी... किंतु दोनों में थोड़ा पार्थक्य भी है। स्तुति में कर्म की पूर्णता विद्यमान है। किसी महत व्यक्तित्व के प्रभाव को सूत्रबद्ध करने की प्रक्रिया में स्तुति निर्मित होती है। स्तुति एक प्रकार का 'प्रभाव - अनुशासन' है, जिसके केंद्र में महत कर्म हुआ करते हैं। एक तरह से यह कर्म अपनी पूर्णता को प्राप्त हो चुके हैं या वे संयोजित हो चुके हैं। इसीलिए अलौकिक पात्रों (ईश्वर या अतिप्राकृत) की स्तुति निर्मित होती हैं। इस ढंग से देखें तो प्रशंसा में भी उत्कृष्ट कर्म या व्यक्तित्व होते हैं, किंतु उसमें किसी अप्रकाशित कथ्य को प्रकाशित करने का भाव प्रबल होता है या अपने मन पर पड़े प्रभाव को कह देने का भाव। प्रशंसा में वैयक्तिक प्रभाव मुख्य है और स्तुति में सार्वदेशिक प्रभाव या समूह प्रभाव। हम किसी व्यक्ति की स्तुति तब तक नहीं कर सकते, जब तक कि उस व्यक्तित्व से सभी प्रभावित न हों या अधिकांश व्यक्ति न हों। स्तुति सामूहिक प्रभाव चेतना की अभिव्यक्ति है, ठीक उसी प्रकार जैसे प्रशंसा 'वैयक्तिक प्रभाव चेतना की अभिव्यक्ति।' इसीलिए तो प्रशंसा में सामान्य व्यक्तित्व के महत कर्म केंद्र बनते हैं।

नायक-नायिकाओं के बीच की प्रशंसात्मक उक्तियों में भी विचित्र ढंग से असंगति देखने को मिलती है। एक पुरुष अपनी प्रेमिका से जब कहता है कि 'तुम संसार की सबसे सुंदर स्त्री हो' तो यह वाक्य उसकी सच्ची भावनाओं से निसृत होने के बावजूद झूठा और असंगत वाक्य ही ठहरता है। कारण, यह कि एक तो उस प्रेमी ने संसार भर की सभी स्त्रियों को न तो देखा है और न उसने उनके बीच तुलना करने के कोई वस्तुनिष्ठ मानक ही निर्मित किये हैं, बावजूद वह इस प्रकार की अतिशयोक्ति पूर्ण कथनों का प्रयोग करता है। तो क्या, प्रेम के बीच निसृत भावात्मक उक्तियाँ झूठी, कृत्रिम, आडम्बरपूर्ण हैं? भाव की सघनता में आवृत्ति और अतिशयोक्ति दो तत्व चलते ही हैं। कथनों की आवृत्ति भाव की सघनता के ही आत्मिक उपाय हैं, उसी प्रकार भावात्मक आवेश अतिशयोक्ति पूर्ण कथन की ओर ले

जाता है। उदाहरण के लिए भक्त कवियों का प्रपत्ति भाव देखें-' मैं कुत्ता राम का / मुतिया मेरा नाम....' । प्रपत्ति और भक्ति क्षणों में भाव की सघनता अतिशयोक्ति पूर्ण कथन की ओर चले ही जाते हैं। वस्तुतः यह भाव की प्रकृति है। वैचारिक उक्तियाँ जिस प्रकार तार्किकता और क्रमिक पद्धति के रूप में विकसित होती हैं, उसी तर्ज पर भावात्मक उक्तियाँ विकसित नहीं हो सकती। कहने का अर्थ यह है कि प्रेमी और प्रेमिका के बीच उद्धृत अतिशयोक्तिपूर्ण कथन भाव की तीव्रता के ही बोधक हैं। तर्क का एक दूसरा धरातल भी हो सकता है। तर्क का एक दूसरा धरातल भी हो सकता है। जब कोई पुरुष किसी स्त्री के लिए ऐसी अलंकारपूर्ण उक्तियों का प्रयोग करता ही तो उसमें अतिशयोक्ति के तत्व भले ही प्रगाढ़ हों , किन्तु उन्हें सतही, कृत्रिम नहीं कहा जा सकता। कारण यह कि प्रेम के उदात्त क्षणों में प्रेमिक-प्रेमिका के व्यक्तित्व का एक-दूसरे पर प्रभाव इस रूप में पड़ता है कि दोनों अपने भीतर एक रचनात्मक ऊर्जा को महसूस करते हैं । एंटनी का क्लियोपेट्रा से यह कहना कि-' मैं तुम्हारे लिए संपूर्ण रोम का साम्राज्य छोड़ सकता हूं' मैं न तो अतिशयोक्ति है और ना आडंबर, बल्कि इस वाक्य में अपनी प्रेमिका के व्यक्तित्व से 'आबद्ध प्रभाव' को ही महसूस किया जा सकता है।

पुरुष स्त्री के सच्ची भावनाएं एक निर्मल दर्पण की भांति है, जो अपनी भावनाओं का प्रकाश सामने वाले के व्यक्तित्व में देखने का प्रयास करती हैं। यह उस दर्पण से भिन्न है जो पुरा कथाओं में मिलता है, जिसमें वह किसी सुंदर स्त्री का चित्र दिखाता था। पुरा कथा एक प्रतीक थे (हैं) जिसमें सत्य मनोवृति के प्रकाश के लिए अतिप्राकृतिक घटनाओं का आश्रय लिया जाता था। हमारा हृदय एक दर्पण ही तो है, जिसमें एक सच्चा प्रतिबिंब झांकता है। पानी स्वच्छ हो तो चेहरा/ प्रतिबिंब साफ दिखने लगता है, उसी प्रकार हृदय की सच्ची भावनाएं एक प्रतिबिंब निर्मित कर दिया करती हैं। अपनी सामाजिक और मनोवैज्ञानिक स्थिति के कारण स्त्री की प्रशंसात्मक उक्तियाँ पुरुष के मुकाबले ज्यादा आत्मिक अनुभूतियों से युक्त होती हैं। स्त्री की प्रशंसा वैयक्तिक अनुभूति के सापेक्ष या इर्द-गिर्द विकसित होती है और पुरुष की प्रशंसात्मक उक्तियाँ सामाजिक आकांक्षा के तले विकसित होती है। कोई प्रेमिका अपने प्रेमी के लिए उदात्त विशेषण का प्रयोग करती है, किंतु उसकी उक्तियों में अतिरंजना के तत्व कम- से- कम होते हैं या वे वैयक्तिक अनुभूति से संचालित होते हैं। एक प्रेमिक के गुण उसकी प्रेमिका के अनुभव से पुष्ट होते हैं और वह उन्हीं से पुष्ट करती है। इस ढंग से पुरुष की उक्तियाँ कल्पनात्मक भी होती है, किंतु ऐसा प्रेमिका के संदर्भ में नहीं कहा जा सकता।

3.7.2 उत्तर सत्य (पोस्ट ट्रूथ) के दौर में अलंकार

क्या उत्तर-सत्य को "अलंकारों के विस्थगन का काल" कहा जा सकता है? क्या यह अलंकारों की विदाई का समय है? आधुनिक चेतना ने बिम्ब खड़े किए थे। उत्तर-सत्य ने 'कृत्रिम चेतना' को आधार रूप में प्रतिष्ठित कर दिया। चेतना जब जीवंत होती है, तब अलंकारों की सृष्टि होती है। चेतना जब कृत्रिम बन जाती है, तब 'माध्यम' केन्द्रस्थ हो उठता है। माध्यम के केन्द्रस्थ होने का अर्थ या निहितार्थ यह होता है कि अलंकार तब विस्थगन की प्रक्रिया से गुज़रते हैं। अलंकार सामंती जीवन के उत्सव चिह्न तो थे ही, साथ ही मनुष्य की कथन भंगिमा के माध्यम से चमत्कार के नियामक भी थे। अतः

अलंकार में कथ्य पर अलंकरण की प्रधानता रहती है। जीवन में जब-जब कथ्य की केन्द्रीयता कमज़ोर पड़ेगी, तब-तब अलंकार की वृद्धि होगी। इस ढंग से अलंकार कथ्य के द्वंद्वपूर्ण विधान भी हैं और पूरक रूप भी।

उत्तर-सत्य, उत्तर-आधुनिकता का अगला चरण है। उत्तर-सत्य आभासी या कृत्रिम सत्य है। इस आभासी सत्य में अलंकरण की वृत्ति को पनपने से रोका है। अलंकरण या अलंकार में उत्कर्ष है। इसमें अतिश्योक्ति तो है, किन्तु कृत्रिमता नहीं। पोस्ट-ट्रूथ पॉलटिक्स के प्रथम प्रयोक्ता डेविड रोबॉट्स ने 1 अप्रैल, 2010 में इसको सैद्धांतिक रूप में प्रयुक्त किया था। इसके पूर्व इसकी स्थितियां बननी प्रारंभ हो गयी थीं। उत्तर सत्य का पहला प्रयोग स्टीव टेसिच ने 1992 में किया था। यह प्रयोग राजनीतिक अवधारणा के तहत हुआ था। 2015 में अमेरिका में जैसोन हारसिन ने एक पोस्ट ट्रुथ व्यवस्था को स्वीकार किया। धीरे-धीरे सत्य-झूठ के घालमेल ने इस व्यवस्था को सैद्धांतिक अवधारणा के साथ ही व्यावहारिक तौर पर भी प्रतिष्ठित कर दिया।

उत्तर-सत्य एक मुहावरा है। यह सत्य का उत्तरार्द्ध नहीं है, अपितु सत्य का असत्य में विलीनीकरण है। सत्य अब छापेमार रूप में नहीं आता,अपितु असत्य छापेमार रूप में आता है। असत्य और सत्य के परस्पर भूमिकाओं की अदला-बदली का व्यावहारिक नाम ही पोस्ट-ट्रुथ है।

उत्तर-सत्य युग में भाव छोटे होते गए हैं। भाव के छोटे होने का अर्थ यह समझा जाना चाहिए कि अलंकार तकनीक के ऊपर आश्रित होकर, कृत्रिम होकर लंबे नहीं रह गए। भाव के छोटे रूप अलंकारों के लिए मुफ़ीद न रह गए। अलंकार बड़े भाव के सूचक हैं। महावृतान्त के बीच कथन की भंगिमा अलंकार के अलग-अलग रूपों में ढल जाती है। और जहां महावृतांतों का संकुचन होगा, वहां अलंकारों की मात्रा/संख्या सीमित होगी।

प्रश्न है कि क्या अलंकारों की संख्या का संबंध कथ्य से है या युग विस्तार से? युग बदल जाने से, नए मनोभावों के बीच क्या अलंकारों की संख्या में वृद्धि नहीं होती? ऊपर हमने कहा कि महावृतांतों का सम्बंध अलंकार से है। आज अलंकारों का प्रयोग कम हो रहा है। किंतु इसका अर्थ यह नहीं है कि अलंकारों के विस्तार के रास्ते बंद हो गए हैं। कथन की भंगिमा ही अलंकार की उत्पत्ति का कारक बन जाया करती है। समस्या तब खड़ी होती है, जब कथन भंगिमा के विस्तार के लिए स्पेस न मिल पा रहा हो। एक भाव तभी पूर्ण होते हैं, जब वे अपनी माप को पूरा करते हैं। माध्यम, यंत्र के आधिक्य ने अपूर्ण भावों को जन्म दिया है। अपूर्ण भाव अधूरे बिम्ब के द्योतक हैं।

अलंकार का संबंध जीवन के राग से है। कृत्रिम मनोभाव में अलंकरण की क्षमता नहीं होती। अलंकरण स्वयं में प्रदर्शन से आबद्ध होता है। रीतिकालीन कविता की फजीहत के पीछे अलंकारों की सजावट का बड़ा हाथ था। आचार्य रामचंद्र शुक्ल जैसे साहित्य के पारखी अध्येता ने रीति कविता में अतिशय अलंकरण की वृत्ति को रीतिकालीन कविता के लिए दोष कहा है। अतिशय अलंकरण की वृत्ति में तो दोष होगा ही। लेकिन भंगिमाओं की दृष्टि से , संचारी की दृष्टि से रीति कविता बहुत समृद्ध है। इसलिए अलंकार को हेय समझना उचित न होगा।

काव्य की आत्मा का प्रश्न पुराना पड़ चुका है। बावजूद कि रेवा प्रसाद द्विवेदी जैसे अध्येता अलंकार को काव्य/कविता में सर्वप्रमुख मानते रहे हैं। अभी हम इस प्रश्न की ओर नहीं जा रहे हैं। क्योंकि हम मानते हैं कि साहित्य की मूल क्रिया संवेदित करना है। अब इस संवेदना के हेतु अलंकार बनते हैं, रीति, वक्रोक्ति या ध्वनि। रस तो मनोभाव रूप हैं ही। हम कविता को सौन्दर्य मूलक चेतना मानते हैं। इसलिए अभी हम काव्य के आत्मा वाले प्रश्न को फिलहाल छोड़ रहे हैं।

बाज़ार अलंकार की भूमि भी बनते हैं। बाज़ार, अलंकरण के हेतु भी हैं। सौंदर्य के हेतु जब अलंकार बनते हैं तब भाव-विस्तार की प्रक्रिया सम्पन्न होती है। किंतु जब अलंकार बाज़ार के हेतु बनते हैं तब सत्ता, उपभोग की पूर्ति की प्रक्रिया तीव्र होती है।

उत्तर-सत्य (पोस्ट ट्रूथ) के समय में एक ओर अलंकारों के लिए संकुचन की स्थिति निर्मित हुई है तो दूसरी ओर बाज़ार की पूर्ति के लिए एक उद्दीपन रूप में भी अलंकार सहायक हुए हैं। यह क्या विरोधाभास है?

3.8 सारांश

काव्यांग विवेचन शीर्षक पाठ्य पुस्तक की यह तीसरी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपने अध्ययन किया कि—

- अलंकार का अर्थ समझ सकें।
- अलंकारों के भेद और प्रकारों से परिचित हो सके।
- अलंकारों के आधुनिक स्वरुप से परिचित हो सकें।
- अलंकारों के महत्व से परिचित हो सके।

अभ्यास प्रश्न - 2

टिप्पणी कीजिये।

उपमा अलंकार

.....

.....

.....

अनुप्रास अलंकार

.....

.....

.....

संदेह और भ्रांतिमान

.....

.....

.....

अतिश्योक्ति अलंकार

.....

.....

.....

3.9 शब्दावली

- अलंकार- कविता में सौन्दर्य की वृद्धि करने वाले तत्व
- शब्दालंकार – जो अलंकार शब्दों द्वारा सौन्दर्य की वृद्धि करें
- अर्थालंकार – जो अलंकार अर्थ के माध्यम से कविता के सौन्दर्य की वृद्धि करें
- सादृश्यमूलक – समानता बताने वाले अलंकार
- श्रृंखलामूलक- जो अलंकार श्रृंखला के रूप में कविता के सौन्दर्य की वृद्धि करें
- गूढार्थ- संश्लिष्ट अर्थ को बताने वाले शब्द

3.10 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. गलत
2. गलत
3. गलत
4. सही
5. सही
6. सही

3.11 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. काव्य के तत्व- देवेन्द्रनाथ शर्मा
2. हिंदी साहित्य ज्ञान कोश – संपादक शम्भुनाथ

3.12 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. काव्यालंकार- भामह
2. काव्यालंकारसूत्रवृत्ति – वामन

3.13 निबंधात्मक प्रश्न

1. शब्दालंकारों पर निबंध लिखिए।

2. अर्थालंकारों पर निबंध लिखिए।

इकाई 4- छंद

इकाई की रूपरेखा

4.1 प्रस्तावन
4.2 उद्देश्य
4.3 छंद-अर्थ
4.4 छंद- प्रमुख भेद
4.5 मुक्त छंद की अवधारणा
4.6 सारांश
4.7 शब्दावली
4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची
4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
4.11 निबंधात्मक प्रश्न

4.1 प्रस्तावना

छंद भाव की लय का अनुशासन है। सामान्य बोलचाल में हम रुकते हैं, ठहरते हैं, तब हम विराम चिह्न की मदद लेते हैं। इसी प्रकार कविता में भी होता है। कविता में भाव की लय भी कहीं रूकती है, कहीं बलाघात होता है, कहीं आरोह -अवरोह होता है। तब छंद की आवश्यकता पड़ती है । जैसा कथ्य होगा, जैसा भाव होगा ; उसी प्रकार छंद भी होगा । छंद लय और भाव के अनुशासन हैं। आधुनिक कविता में जब छंद का बंधन टूटा तब भी लय का अनुशासन सक्रिय ही रहा । काव्य रूपों का प्रश्न दरअसल बदली हुई सामाजिक स्थिति से निर्धारित होता है । पुरानी कविता बिना छंद के हो ही नहीं सकती थी, किन्तु आज की कविता हो सकती है । इसके पीछे मुख्य वज़ह है युग सन्दर्भ में हुआ बदलाव । लेकिन कविता में छंद का महत्व इससे कम नहीं हो जाता । प्राचीन कविता के सौंदर्य को समझने के लिए छंद आज भी हमारी मदद करते हैं । इस इकाई में हम छंद सम्बन्धी कुछ प्रमुख तथ्यों का अध्ययन करेंगे ।

4.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन नामक पाठय पुस्तक की यह चौथी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- छंद के अर्थ से परिचित हो सकेंगे ।
- छंद के प्रमुख भेदों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे ।
- छंद की विशेषताओं को समझ सकेंगे ।
- छंद के नये रूप से परिचित हो सकेंगे ।
- मुक्त छंद को जान सकेंगे ।
- छंद के महत्व से परिचित हो सकेंगे

4.3 छंद -अर्थ

छंद कविता का आंतरिक अनुशासन है। कविता में जब वर्णों का निश्चित रूप और मात्रा का निश्चित विधान मिलकर सौंदर्य की वृद्धि करते हैं तो उसे छंद कहते हैं। छंद शब्द की व्युत्पत्ति छद् धातु से मानी गयी है। छद् का अर्थ आवृत्त करना, रक्षित करना या प्रसन्न करना स्थिर किया गया है। निघँटु में भी छद् की व्युत्पत्ति प्रसन्न करने के ही अर्थ में है। किन्तु अपने व्यावहारिक रूप में छंद वर्ण का अपना अनुशासन है। वस्तुतः यह अनुशासन बाहर से नहीं, भीतर से तय होता है। इस प्रकार छंद कविता का अनिवार्य अंग के रूप में हमारे सामने आता है। प्राचीन कविता बिना छंद के लिखी ही नहीं जा सकती थी । किन्तु आधुनिक कविता ने छंद के अनुशासन को तोड़ा है। वेद के छः अंग में से शिक्षा, कल्प,

निरुक्त, व्याकरण आदि के साथ ही छंद भी है। अग्निपुराण में छंद के वैदिक और लौकिक रूप की चर्चा की गयी है। हालांकि छंद शास्त्र का स्वतंत्र ग्रंथ पिंगल शास्त्र या छंद शास्त्र है।

छंद शास्त्र के पहले आचार्य पिंगलाचार्य हैं, जिनका छंदसूत्र नामक ग्रन्थ प्रसिद्ध है। इसके अतिरिक्त भरत के नाट्यशास्त्र, अग्निपुराण, हलायुध का छंदशास्त्र, क्षेमेन्द्र का सुवृत्त तिलक, गंगादास का छंदोमंजरी, केदारभट्ट का वृत्त रत्नाकर, दामोदर मिश्र का प्राकृत पैंगलम और वाणी भूषण, मतिराम का छंदसार पिंगल, चिंतामणि त्रिपाठी का छंद विचार, सुखदेव का वृत्त विचार, माखन का छंद विलास, नारायणदास का छंद सार, कलानिधि का वृत्त चन्द्रिका, पदमाकर का छंद सार मंजरी, गदाधर भट्ट की छंदोमंजरी, भिखारीदास का छंदार्णव, जगन्नाथ प्रसाद भानु का छंद प्रभाकर आदि छंद शास्त्र के प्रमुख ग्रन्थ हैं।

4.4 छंद के प्रमुख भेद

छंद के दो भेद किये गए हैं - वर्णिक छंद और मात्रिक छंद।

वर्णिक छंद उन्हें कहा जाता है, जिनमें वर्णों की संख्या निर्धारित होती है । इसमें गणों के आधार पर लक्षण निर्धारित होते हैं। इसमें यति का स्थान निर्धारित रहता है। मल्लिका, मंदाक्रांता, वंशस्थ आदि वर्णिक छंद हैं। वर्णिक छंद के तीन उपभेद है। (क) समवर्णिक, (ख) अर्धसम वर्णिक औड (ग) विषमवर्णिक। जिस वर्णिक छंद में चारों चरों में समान वर्णों और समान क्रम से गणों की स्थाना की जाती है, वहां समर्णिक छंद होता है। अर्ध समवर्णिक छंद में प्रथम और तृतीय चरणों तथा द्वितीय और चतुर्थ चरणों में समान वर्णों एवं समान गणानुक्रम का विधान है। इस प्रकार के छंदों में न पूर्णतया समानता होती है और न ही पूर्णतया असमानता। अतः इन्हें अर्ध समवर्णिक छंद कहते हैं। विषम वर्णिक छंद के चारों चरणों में वर्णों एवं गणों के क्रम की समानता नहीं होती। दो चरण समान हैं, पर शेष दो चरण असमान, तब भी विषम वर्णिक छंद ही होगा, क्योंकि इसमें भी चरणों के असम वर्ग अर्थात तीन वर्ग हो जाते हैं। दिनकर ने 'उर्वशी' में सार छंद का और अतुकांत दोनों रूपों में प्रयोग किया है। वहीं मैथिलीशरण गुप्त के 'साकेत' के नवम आरंभिक 'दो वंशों में प्रकट करके पावनी नीला/ सो पुत्रों से अधिक जिनको पुत्रियां ना' वाला जनक की स्तुति से संबंधित अर्द्धछंद छंद में रचित है, लेकिन तुकांत है।

चारों चरणों की भिन्न-भिन्न रूप से स्थापना होने के कारण यह विषम वर्णिक छंद है।

मात्रिक छंद का नियोजन वर्ण या गणों के आधार पर न होकर मात्राओं के आधार पर होता है। इसमें गुरु की दो मात्राएं एवं लघु की एक मात्रा होती है। वर्णिक छंदों की भांति इसके भी तीन वर्ग किए गए हैं : (क) सममात्रिक छंद (ख) अर्ध-सममात्रिक छंद तथा (ग) विषम मात्रिक छंद। सममात्रिक छंद वे होते हैं, जिनके चारों चरणों में समान मात्राओं का विन्यास हो और संबद्ध मात्रिक छंद के यति, गुरु, लघु, गण आदि के नियमों का चारों चरणों में पालन किया जाता है। अर्ध-सममात्रिक छंद में भी पहले और तीसरे चरण में समान मात्राओं एवं यति का नियम होता है तथा द्वितीय एवं चतुर्थ चरणों में पहले

और तीसरे चरण से भिन्न समान मात्राएं एवं यति स्थान होते हैं। दोहा, सोरठा आदि छंद अर्ध- न भी सममात्रिक छंद हैं। जिस छंद के चारों चरणों में कुल वंशस्थ मात्राएं पृथक-पृथक हों, वहां विषम मात्रिक छंद होता उपभेद है। कभी-कभी दो चरण समान मात्रिक हो जाते हैं।

प्रमुख छंद

दोहा : यह अर्ध सममात्रिक छंद है। इस छंद के और सम चरणों (द्वितीय और चतुर्थ) में ।। मात्राएं होती हैं। यति चरण के अंत में होती है। विषम धरणों के आदि में जगण नहीं होना चाहिए। सम धरणों के अंत में लघु होना चाहिए। लुक सम चरणों में होना चाहिए। जैसे,

मेरो भव बाधा हरी, राधा नागरि सोई।
जा तन को झांई परे, स्यामु हरित दुति होइ ।।

हिंदी में यह छंद भक्तिकाल और रोति काल के कवियों द्वारा प्रयुक्त हुआ है। सूर, तुलसी मौरा आदि ने अपने पदों में इसका उपयोग किया है। दोहा मुक्तक काव्य का प्रधान छंद है। इसमें संक्षिप्त और तोखी भावव्यंजना तथा प्रभावशाली लघु चित्री को प्रस्तुत करने को अपूर्व क्षमता है। तुलसीदास के 'रामचरितमानस और जायसी के 'पद्मावत' में प्रबंध काव्य शैली में इसका प्रयोग हुआ है। कई आधुनिक कवियों ने भी इस छंद का प्रभावशाली प्रयोग किया है।

चौपाई : यह सममात्रिक छंद है। इसके प्रत्येक चरण में 16 मात्राएं होती है। चरण के अंत में जगण और तगण का आना वर्जित है। तुक पहले चरण में दूसरे से और तीसरे की चौथे से मिलता है। यति प्रत्येक चरण के अंत में होती है। अंत में दो गुरु अच्छे माने जाते हैं। जैसे,

कंदडे गुरु पद पदुम पराना, सुरुचि सुवास सरस अनुरागा।
अमिय मुरिय मय चूरन चारू, समन सकल भव रुज परिवारू ।।

तुलसीदास ने 'रामचरितमानस' में इसका सफल प्रयोग किया है। चंदबरदाई, जायसी, सुंदरदास, नंददास इत्यादि ने इसके नियमों के पालन में सिथिलता दिखाई है। कथा-काव्यों में इस छंद को लोकप्रियता का मुख्य कारण यह है कि इसमें सभी रसों का निर्वाह हो जाता है। वोरकाव्य में कवियों में केशव, गोरेलाल, सूदन, जोधराज, गुलाब, है। प्रेमाची शाखा के कवियों में कुतुबन उसमान आदि ने इसको है। सूरदास ने सूरसागर में जोड़ने के लिए इसका प्रयोग किया है। नागार्जुन, त्रिलोचन, रामविलास शमां को पता में इसका प्रयोग नई ढंग के साथ हुआ है।

सोरठा : यह अर्थ सममात्रिक छंद है। यह दाह का उलटा है अर्थात दोहे के द्वितीय बरणको प्र और प्रथम को द्वितीय तथा तृतीय को चतुर्व और चतुर्थ को तृतीय कर देने से सोरठा बन जाता है। इस छेद के विषम चरणों में ।। और सम चरणों में 13 मात्राएं होती है। तुक प्रथम और तृतीय चरणों में होता है। उदाहरणार्थ:

सुनि केवट के बैन, प्रेम लपेटे अटपटे
बिहेसे करुणानैन, चितइ जानकी लखन तन।

रोला : यह सममात्रिक छंद है। इसके प्रत्येक में 24 मात्राएं होती हैं। प्रत्येक चरण में 11 और 13 मात्राओं पर यति अधिक प्रचलित है। प्रत्येक चरण के अंत में दो गुरु या दो लघु वर्ण होते हैं। दो-दो चरणों में तुक आवश्यक है। जैसे,

मूलन ही को जहां, अधोगति केसव माइय।
होत हुतासन धूम, नगर एके गलिनाइय।
दुर्गति दुर्जन ही जो, कुटिल गति सरितन हो में।
ओ फल को अभिलाष, प्रकट कुल कवि के जी में।

हिंदी में इस छंद का प्रयोग चंदबरदाई, सूरदास, नंददास, केशव, सूदन, रघुराज आदि ने किया है। यह छंद प्रत्येक रस में प्रयुक्त हो सकता है। नंददास को 'रासपंचाध्यायी', 'सिद्धान्त पंचाचार्य 'रुक्मिणीमंगल' में और रत्नाकर के गंगाकारण में इसका सफल प्रयोग हुआ है। त्रिलोचन ने अपने सॉनेटों में इसका सफल प्रयोग किया है।

कुंडलिया

यह विषममात्रिक संयुक्त छंद है। दोहा सामने से यह में होते हैं। द के प्रथम या दो और द्वितीय चरणको मिलकर है। केतोय और चतुर्थ चरणको के सेदिलीय चरण बनता है। इसके चतुर्थ, पंचम और इस चरण है। दोहे का चौथा चरण रोला के प्रथम चरणराया जाता है और दोहे के प्रारंभ का शब्द रोल में आता है। यतियां पोहे और दोले वाली ही रहती हैं। इस प्रकार इसको प्रत्येक पंक्ति में 24 मात्राएं होती हैं। जैसे—

कृषधन कडून मानहो, कोटि करो जो कोप। सरबस आपे राखिए, ऊन अपने हो।
तऊन अपने होय, भाले को भलो न माने। काम काड़ि चुप रहे, फेरि, लिहि नहि पहिचाने।
कह गिरधर कविराय, राहत वित हो निर्भय मन। मित्र शत्रु नहि एक, दाम के लालच कृतधन।

हिंदो में गिरधर की कुंडलियां काफी लोकप्रिय रही है। उनके अतिरिक्त केशव (रामचंद्रिका), कटमल (गोरा बादल), सूदन (सुजान चरित) आदि ने इस छंद का प्रयोग किया है। यह छंद वोर रस तथा उपदेश के लिए अधिक उपयुक्त है।

सवैया : यह एक वर्णिक समवृत्त छंद है। इसके एक चरण में 22 से लेकर 26 तक अक्षर होते हैं। इसके कई भेद हैं। इसके प्रत्येक चरण में सात भगण (511) और अंत में दो गुरु वर्ण होते हैं। चारों चरण तुकांत होते हैं। रोति काल में विभिन्न प्रकार के सर्वए लिखे गए थे। संस्कृत में ये समस्त भेद वृत्तात्मक हैं। परंतु कुछ विद्वान हिंदी के सवैया छंद को मुक्तक वर्णिक के रूप में समझते हैं। कवित्त की भांति सवैया भी लपमूलक हो है। रोति काल को मुक्तक शैली में कवित्त और सवैया का महत्वपूर्ण योग है। वैसे, भक्ति काल में कवित्त और सवैया दोनों हो छंदों का प्रयोग तुलसीदास ने 'कवितावली' में किया था। भगणात्मक, जगणात्मक तथा सगणात्मक सबैए को लय क्षिर चरण को रस के विभिन्न अंगों (विभाष अनुभवता उद्दोपन, संचारों, नायक-नायिका भेर आदि) के लिए इसका चित्रामक तथा भावात्मक प्रयोग किया है। रसखान, धनानंद आलम जैसे पेभी धवत कवियों ने भक्ति भावना के आवेग और उद्वेग को

सफल अभिव्यक्ति सवेया छंद में को है। भूषण ने कौर रस के लिए इस खंद का प्रयोग किया है, किंतु वीर रस इसको प्रकृति के बहुत अनुकूल नहीं है।

आधुनिक कवियों में भारतेंदु हरिश्चंद, लक्ष्मण सिंह, नाधूराम शमी 'शंकर' आदि ने इस छंद का प्रयोग किया है। जगदोश गुप्त ने इस छंद में नई लक्षणा शक्ति का समावेश किया है। विलोचन ने इसे मुक्त छेद को तरह साधा है।

सबैया के कई प्रकार है- (1) उपजाति सबैया, (2) मत्तगयंग सर्वपा, (3) सुमुखि सबैया (4) दुमिल सबैया, (5) किरोट सबैया, (6) गंगोषक या लक्षी सर्वपा, (7) मुक्तहरा सवेया, (8) वाम सबैया, (9) अरसात सवेया, (10) सुंदरो सवैया, (11) अरक्दि सवैया, (12) मानिनो सबैया, (13) महाभुजगप्रयात सवैया, (14) सुखी सवेया इत्यादि। तुलसी, केशव तथा रसलोन ने इसका बहुतायत से प्रयोग किया है। रसखान तो सबैयों के ही लिए प्रसिद्ध है।

मनहरण कवित्त- जिस पद्य के प्रत्येक चरण में 31 वर्ण हों, किंतु अंत में गुरु अवश्य हो तथा क्रमशः पंद्रहवें और सोलहवें वर्षों पर यति हो, वहां मनहरण कवित्त छंद होता है। यदि प्रत्येक आठवे वर्ण और पदांत में यति आ जाती है तो छंद और खिल उठता है और उसमें लय और प्रवाह और अधिक आ जाता है।

सरोज सुमन वह, प्यारा-प्यारा खिलता-सा. हृदय लुभाती
यति पंद्रह सोलह से।

उपर्युक्त पंक्ति में कुल इकतीस वर्ण हैं।

छप्पय : यह छंद रोला एवं उल्लाला नामक दो छंदों को मिलाकर बनता है। इसमें छह चरण होते हैं। पहले चार चरण रोला छंद के तथा अंतिम दो चरण उल्लाला छंद के होते हैं। यह एक विषम मात्रिक छंद है। जैसे,

नीलाम्बर परिधान हरित पट पर सुंदर है,
सूर्य चंद्र युग मुकुट मेखला रत्नाकर है।
नदियां हेम प्रवाह, फूल तारे मंडल है,
बंदीजन खगवृंद, शेषफन सिंहासन है।
करते अभिषेक पयोद हैं, बलिहारी इस वेश को
हे मातृभूमि ! तू सत्य ही, सगुण मूर्ति सर्वेश की।

छप्पय अपभ्रंश और हिंदी के कवियों का प्रिय छंद रहा है। चंदबरदाई ने 'पृथ्वीराजरासो', तुलसीदास ने 'कवितावली', केशव ने 'रामचंद्रिका', नाभादास ने 'भक्तमाल' और भूषण ने 'शिवराज भूषण' में इस छंद का प्रयोग किया है। मतिराम और भूषण भी इस छंद का प्रयोग करते हैं। इस छंद के आरंभ में प्रयुक्त रोला में गति का चढ़ाव है और अंत में उल्लाला में उतार है। इसी वजह से युद्ध आदि के वर्णन में भावों का उतार-चढ़ाव दिखाने के लिए इस छंद का प्रयोग किया जाता है।

उल्लाला यह अर्थ सममात्रिक छंद है। उल्लाला छंद दो प्रकार का होता है। एक ओर यह सममात्रिक छंद है। दूसरी ओर, यह अर्थ-सममात्रिक छंद है। यहां सममात्रिक छंद के रूप में इसका लक्षण प्रस्तुत है। जिस पद्य के प्रत्येक चरण में तेरह-तेरह मात्राएं तथा त्रिकल और पंचकल का विधान हो, वहां उल्लाला छंद होता है। उल्लाला द्विखंडक रूप में चौदह-चौदह मात्राओं का भी होता है। प्रत्येक खंड में अठाईस मात्राएं हो जाती हैं। पद्य के प्रथम खंड में अठाईस मात्राएं होती हैं तथा तीन चतुष्कल, एक त्रिकल, फिर एक चतुष्कल और अंत में त्रिकल आते हैं। वस्तुतः यह अर्थ समउल्लाला का ही लक्षण है और छप्पय के अंत में आता है।

गीतिका। यह सममात्रिक छंद है। इसके प्रत्येक चरण में 26 मात्राएं होती हैं। 14 एवं 12 पर यति तथा अंत में लघु-गुरु का विधान है। भानु तथा भिखारीदास ने इसका उल्लेख किया है। इसके अंत में यदि गुरु-लघु है तो गीता छंद हो जाताहै। स्पष्टतः यह गोण अंतर है। इसका प्रयोग हिंदी दबरदाई, केशवदास तथा भूषण ने किया है। अप में हरिगीतिका के नाम से गीता छंद का प्रयोग है. यनिमय महल सिवराज के, इमि रायगढ़ (शिवराज भूषण)।

गीतिका-2 वणिक छंदों में समवृत्त का एक भेद है। हिंदी में इसके मात्रिक रूप को डिका कहते हैं, पर प्राचीन परंपरा के अनुसार अब ने इसे वृत्तरूप में प्रयुक्त किया है। प्राकृत पेंगलम' में इस छंद का नाम गोता दिया गया है। जैसे, 'कोड आनु राज समाज में बल सम्भू को धनु कर्षि है। पनि श्रौण के परिमाण तनि सो चित्त में अति हर्षि है। यह राज होइ कि रंक केशवदास सो सुख पाइ है। नृपकन्यका यह तासु के उर पुष्प मालहि नाइ है।' आधुनिक काल में गुप्त जी ने 'किसान' (देशत्याग) और रंग में भंग' में इस छंद का प्रयोग किया है।

जावे: यह एक अर्थसममात्रिक छंद है। इसके पहले और तीसरे चरण में 12-12 तथा दूसरे और चौथे चरण में 7-7 मात्राएं होती हैं, जैसे,

अर्थात शिला का उस पर, या गुरु भार
सिल निल काट रही थी, दूग जल धार।

बरवै छंद अवधी का बहुप्रचलित छंद है। यह अवधी में जितना सरल, मधुर और बहुअर्थव्यंजक होता है, उतनी खड़ी बोली, व्रज और भोजपुरी में नहीं। इस बंद का नाम प्राकृत एवं अप्रभ्रंश में प्रयुक्त होने वाने छंदों में नहीं मिलता। भिखारीदास ने इस छंद का प्रयोग नहीं किया है। इससे प्रतीत होता है कि यह छंद लोकगीतों के रूप में प्रचलित था, जिसे बाद में शिष्ट साहित्य में अपनाया गया। हिंदी में तुलसीदास ने इसी छंद में अपनी प्रसिद्ध कृति 'बरवे रामायण' लिखी है। रहीम ने भी अपने 'बरवै नायिका-भेद' में इसका बहुत सजीव प्रयोग किया है। सुंदरदास ने 'पूर्वाभास बरवै', रघुराज सिंह ने 'रामस्वयंवर'तथा सेवक ने 'नखशिव' में इसका प्रयोग किया है। प्रचलित छंदों में यह लघुतम छंद है। आधुनिक कान में गुप्त जी ने इस छंद का बहुत सफल प्रयोग किया है। निराला के 'बादल राग' में भी इसकी गूंज सुनाई देती है, **'झूम झूम मृदु गरज गरज घन चौर, राग अमर। अंबर में भर निज रोर।'**

द्रुतविलंबित यह यणिक समवृत छंद है जिसके प्रत्येक चरण में नगण, भगण, भगण, रगण के क्रम से कुल 12 वर्ण होते हैं। 'प्राकृत पेगलम्' में इसे सुंदरी और नाट्यशास्त्र में हरिणीप्रसूता नाम दिया गया है। हिंदी में केशव, हरिऔध तथा मैथिलीशरण गुप्त ने इस छंद का प्रयोग किया है। जैसे,

न जिसमें कुछ पौरुष हो यहां,

सफलता वह पा सकता कहा ?

मालिनी यह भी वर्णिक समवृत्त छंद है, जिसके प्रत्येक चरण में नगण, मगाण, भगण, यगण, यगण के क्रम में कुल 15 वर्ण होते हैं तथा 7-8 यणों पर यति होती है। भरत ने इसका नाम नांदीमुख दिया है। हिंदी साहित्य में इसका प्रयोग केशवदास, रहीम और सूदन ने किया है। आधुनिक कवियों में हरिऔथ, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने किया है। जैसे, 'पल-पल जिसके में पंथ को देखती थी, निशिदिन जिसके ही ध्यान में श्री विताती।' चंद ने इस छंद को तोड़कर नवीनता प्रदान की है और इसका नाम 'काव्यजाती' रखा है। उनके प्रयोग के अनुसार, नया छंद न न ऽऽ और ररऽ में विभक्त जान पड़ता है। यह परिवर्तन यति के प्रयोग पर बल दिए जाने से हुआ है। चंद ने यति का प्रयोग किया था, पर दीनदयाल गिरि तथा सूदन ने इन यतियों पर तुक का प्रयोग भी किया है।

मंदाक्रांता इस वर्णिक समवृत्त छंद के प्रत्येक चरण में मगण, भगण, नगण, तगण, तगण और दो गुरु के क्रम से 17 वर्ण होते हैं तथा 10-7 वणों पर यति होती है। हेमचंद्र के 'छंदोनुशासन' तथा 'पिंगल छंदःसूत्र' के अनुसार, म, भ, न, त, त, ग ग के योग से यह वृत्त बनता है। कालिदास ने मेघदूत में इस छंद का अमर प्रयोग किया है। आधुनिक युग में हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त आदि ने इस बंद का प्रभावशाली प्रयोग किया है। यह छंद अपनों मंद-मंचर गीत के कारण वियोग श्रृंगार के अनुकूल है। जैसे, फूलो हाले सुकुसुममयों तोय की देख आंखें। आ जाती है मुरलिधर को मोहिनो मुति आगे।

स्वागता (सम छंद): स्वागतां छेद में रगण, नगण, भगण और दो गुरु के कम से कुल ।। वर्ण होते जैसे,

जो कभी सुखद था वहो आन, हो रहा हैं। दुखद सा कहरो साज। हो गया विरह से मन ऐसा, दग्ध है विकल भो तन वैसा।

रथोद्धता छंद (सम छंद): इस छेद के प्रत्येक चरण में रगण, तगण, रगण, लघु तथा गुरु का प्रयोग होता है। यह कुल 11 वर्णा का छंद है। जैसे, 'भारतीयजन! वेद भारतो, ध्यान दे सुनहु वो पुकारतो। दोषहोन समता सदा गहो, छोड़ दो विषमता सुखी रहो।'

भुजंगी : इस छंद को वर्ण संख्या ।। है। प्रत्येक चरण में क्रम से तीन यगण, एक लघु और एक गुरु होता है। यथा-'सखी सत्य क्या में घुली जा रही? मिलूं चांदनी में बुरा क्या यही? नहीं चाहते किंतु वे चांदनी, तपोमग्न हैं आज मेरे धनी।' इस छंद का हिंदी में प्रयोग कम हुआ है। मैथिलीशरण गुप्त ने 'साकेत' और 'स्वर्गीय संगीत' में इस छंद का प्रयोग किया है।

शालिनी : यह ग्यारह वणों का छंद है। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह ग्यारह वर्ण होते हैं। उन्हें क्रमशः मगण, तगण, तगण और दो गुरुओं में विन्यस्त किया जाता है। इसके प्रत्येक चरण के अंत में यति होती

है। यथा- क्या क्या होगा साथ में क्या बताऊं ? है ही क्या, हा आज जो में जताऊं ? तो भी तुली, पुस्तिका और वीणा, चोची में हूं, पांचवी तू प्रवोणा।'

इंद्रवज्रा : इस छंद में कुल ग्यारह वर्ण होते हैं। इसके प्रत्येक चरण में ग्यारह वणों को क्रमशः तगण, तगण, जगण और दो गुरुओं में विन्यस्त किया जाता है। प्रत्येक चरण के अंत में यति का विधान है। जैसे, **'तू मंगाला मंगलकारिणी है, सद्भक्त के धाम विहारिणी है। माता। सदा पूर्ण पिता समेता, कोने हमारे चितमें निकेता।**

यह संस्कृत में विशेष प्रचालित बंद रहा है। वाल्मीकि, व्यास, अश्वघोष, कालिदास, मार श्रीहर्ष आदि ने इस छंद का प्रयोग किया है। हिंदी में केशव ने इसका प्रयोग किया है।

उपेंद्रवज्रा : इस खंद के प्रत्येक चरण में ग्यारह वर्ष होते हैं। इसमें क्रमशः जगण, लगण, जगण और गुरु स्थापित किए जाते हैं। इसके प्रत्येक चरण के अंत में यति होती है। जैसे, 'परखारते हैं पदप कोई चढ़ा रहे हैं फल-पुष्प कोई। करा रहे हैं पयपान कोई उतारते श्रीधर आरती है।' इंदवा के प्रथम वर्ग को लघु करने से यह वृत्त बनता है। इंदचवा और उपेंद्रवज्रा को कई लोगों ने एक ही माना है, क्योंकि दोनों की लप समान है। 'रामदिका' और 'साकेत में इस छंद का प्रयोग हुआ है। प्रसिद्ध प्रार्थना त्वमेध माता च पिता त्वमेव इसो छंद में है।

उपजाति। (समछंद) इंद्रवका और उपेंद्र का मिश्रण उपजाति है। वस्तुतः इंदवड़ा और उपेवडा में केवल प्रथम वर्ग में भेद है, इंद्रवका का प्रथम वर्ण गुरु होता है और उपेंदवड़ा का लघु। दोनों को मिला देने पर उपजाति छंद बनता है। मिश्रण का कोई नियम नहीं है। दोनों के दो-दो चरण हो, या एक का एक चरण और दूसरे के तीन चरण हो। दोनों का मिश्रण आवस्यक है। उपजाति के 14. भेद है, जिनका वर्णन 'प्राकृत पेंगलम्' और भानु के 'छंद-प्रभाकर' में है। रोति काल में केशव ने और आधुनिक काल में मैथिलीशरण गुप्त ने इस छंद का प्रयोग किया है।

उपजाति- यह वर्णिक छंदों में मिश्रित वृत्त का भेद है। केशव ने तोटक और मनोरमा के योग से एक नवीन उपजाति का प्रयोग किया है। इसे अईसन न कहकर मिश्रित छंद कहा जाता है, क्योंकि दोनों छंदों के दो-दो चरण एक साथ प्रयुक्त होते हैं। जैसे, **'सिगरे रणमंडल माझ गए, अवलोकत हो अति भोत गए। दुहु बालन को अति अद्भुत विक्रम, अवलोक भयो मुनि के मन संभ्रम'।**

वंशस्थ (सम छंद) जिस पद्य के प्रायेक चरण में क्रमशः जगण, लगण, जगण और रगण हो, यहां बरास्य छंद होता है। जैसे-**'दिनांत था, थे दिननाच इवले, सधेनु आते गुरु ग्वाल बाल थे। दिगंत में गो इज थो समुत्थिता, विषाण नाना बजते सवेणु थे।'** (हरिऔध)।

भुजंगप्रयात (सम छंद) : भुजंगप्रयात के प्रत्येक बरण में चार यगण होते हैं। यह 12 वणों का छंद है। चार यगणों से यह वृत्त बनता है (155, 155, 155, 155)। यह संस्कृत का प्रचलित छंद है। हिंदी में 'रामचंद्रिका', 'सिद्धार्थ', 'साकेत' एवं कामताप्रसाद गुरु के 'जन्मभूमि' काव्य में इस वृत्त का प्रयोग हुआ है। मानस में भी तुलसी ने उत्तरकांड में (शिव की) बंदना में (नमामीशमीशान निर्वाणरूपम् - रुद्राष्टक) इसी छंद का प्रयोग किया है।

बसंततिलका (समछंद) : यह चौदह वर्णों का छंद है। इसके प्रत्येक चरण में तगण, भगण, दो जगण और दो गुरु होते हैं। आठवें तथा अंतिम वर्ण पर यति होती है। हिंदी में तुलसी दास, केशव, हरिऔध, मैथिलीशरण गुप्त तथा अनूप शर्मा ने भी इस छंद का प्रयोग अपनी रचनाओं में किया है। उदाहरण,

बात बड़ी सरस थे कहते बिहारी,
छोटे बड़े सकल का हित चाहते थे।
अत्यंत प्यार संग थे मिलते सबों से।
वे थे सहायक बड़े दुख के दिनों के।

शार्दूल विक्रीड़ित (सम छंद) इस छंद में क्रम से मगण, सगण, जगण, सगण, दो तगण तथा एक गुरु होता है। कुल वर्ण 19 हैं। यहां 12 और 7 वर्षों पर विराम रहता है।

हिंदी में केशव ने 'रामचंद्रिका' में, तुलसी ने 'रामचरितमानस' के बाल, अयोध्या, अरण्य, किष्किंधा, सुंदर तथा लंका कांड के आरंभ में, हरिऔध ने 'प्रियप्रवास' तथा मैथिलीशरण गुप्त ने 'पत्रावली' में इस छंद का प्रयोग किया है।

शिखरिणी : इस छंद में यगण, मगण, नगण, सगण, भगण लघु तथा गुरु के क्रम से 17 वर्ण होते हैं। पाद के छठे वर्ण पर यति होती है। जैसे, पुष्पदंत के 'शिव महिम्नस्तोत्र' और शंकराचार्य की 'सौंदर्यलहरी' में इस छंद का प्रयोग है। हिंदी में हरिऔध और मैथिलीशरण गुप्त ने इसका प्रयोग किया है।

तोटक: इस छंद के प्रत्येक चरण में बारह वर्ण होते हैं। वे क्रमशः चार सगणों में निबद्ध होते हैं। इसके प्रत्येक चरण के अंत में यति होती है। जैसे, जितने गुण सागर नागर हैं, करते वह बात उजागर हैं।

अब यद्यपि दुर्बल आरत है,
पर भारत के सम भारत है।

तुलसीदास ने उत्तरकांड की 'रामरतुति' और 'कलिवर्णन' में इस छंद का प्रयोग किया है। इसका प्रयोग आदि काल में चंद ने, रीति काल में केशव, सूदन तथा जोधराज आदि ने भी किया है। इसका प्रयोग द्रुतगति के कारण वीर रस के वर्णन में होता है। किंतु सूदन ने अन्य रसों में भी इसका प्रयोग किया है।

तोमर जिस पद्य के प्रत्येक चरण में बारह-बारह मात्राएं हों तथा अंत में गुरु-लघु का क्रम हो, वहां पर तोमर छंद होता है। जैसे,

सुनु राम विनती मोर। में चरण लागू तोर।
गह लीजिए यह हाथ। में हूं नवाता माथ।

भिखारीदास के 'छंदोर्णव पिंगल' में इसका उल्लेख है।

यह छंद प्रायः युद्ध के रण कौशल वर्णन में प्रयुक्त हुआ हे। तुलसीदास ने लंकाकांड में युद्ध के भयानक तथा वीभत्स दृश्य के चित्रण में इस छंद का प्रयोग किया है।

विषम छंद हलायुध भट्ट ने 'पिंगलछंद सूत्रम्' में लिखा है, 'विषम छंद वह छंद है, जिसके सभी सम चरणों और अर्धसम चरणों में असमानता हो।' छंद में चार चरणों की कल्पना करके इस प्रकार की परिभाषा दी गई है। छंद में चार चरण मानने की परंपरा बहुत पुरानी है। वैदिक युग में भी ऋक्प्रातिशाख्य

की सूची के अनुसार, 29 प्रकार के ऐसे छंद प्रचलित थे, जो चार चरणों के थे। परंपरागत छंद के स्वरूप को देखकर आचार्य केदार भट्ट और आचार्य गंगादास ने विषम छंद के विषय में कहा था, 'जिस छंद के चारों चरण भिन्न लक्षण के हों, वह विषम वृत्त है।' आचार्य भानू ने इस परिभाषा को मानकर उसमें इतना और जोड दिया कि चार चरणों से कम अर्थात तीन या चार से अधिक चरण जिन छेदों में हों, उनकी गणना भी विषम छंदों में होती है। संस्कृत साहित्य के छंदों का विश्लेषण कर केदार भट्ट ने 'वृत्त रत्नाकर' के चोव और पांचवें अध्याय में क्रमशः बारह-बारह विषम छंदों का विवरण दिया है। छायावादी युग के पहले हिंदी साहित्य में ऐसे विषम छंदों का प्रयोग नहीं हुआ, केवल मिश्र छंदों के कुछ प्रयोग किए गए थे। अतः हिंदी के छंदशास्वियों ने छप्पय (रोलाउल्लाला), कुंडलिया (दोहा रोला) और अमृतध्वनि (दोहा। अष्टक छंद) आदि को विषम छंदों के वर्ग में रख दिया है। इन छंदों के बारे में भानू ने कहा कि चार चरणों से अधिक या कम चरण वाले छंदों को भी विषम मानना चाहिए, 'विषम छंद या मुक्त छंद वह छंद है, जिसके विकर्ष का लयाधार निश्चित एवं चरणों की संख्या तथा विस्तार अनिश्चित हो।' विषम छंद में चरण संख्या और चरणों की मात्राओं या वर्णो की संख्या को भी अनिश्चित मानना समीचीन है। विषम छंद में कवि को यह पूरा अधिकार है कि यह निश्चित लयाधार की भूमि में रहकर, जितनी चाहे, उतनी स्वतंत्रता प्राप्त करे। विषम छंद के दो भेद हैं: (1) नवविकर्यात्मक छंद: यह यह विषम छंद है, जिसमें विभिन्न चरणों और उनमें प्रयुक्त मात्राओं की संख्या को कवि स्वयं निश्चित करता है, परंतु इस विकर्ष-विधान को आगामी छंदों में आवृत्त करता है। (2) मुक्त छंद या स्वच्छंद छंद: यह विषम छंद है, जिसके चरणों की संख्या और विस्तार पूर्णतः अनिश्चित एवं स्वतंत्र रहते हैं, केवल लयाधार आद्योपांत एक-सा रहता है।

महावीर प्रसाद द्विवेदी ने अनुकांत कविता का पक्ष लिया था, किंतु मुक्त छंद का समर्थन उन्होंने नहीं किया था। छायावादोत्तर युग के कवियों ने मुक्त छंद को अपनाया। स्वच्छंद छंद और मुक्त वृत्त में अंतर वानलाते हुए बच्चन सिंह ने लिखा है, 'स्वच्छंद छंद के चरणों की मात्राओं को भावानुकूल घटाया-बढ़ाया जाता है, किंतु उसमें तुकों की अवहेलना नहीं की

हिंदी नई कविता मुक्त छंद में लिखी गई। इसके बाद छंद की जगह 'अर्थ की लय' ने रने ली और हिंती कि का एक बड़ा हिरसा गद्यात्मक हो उठा।

माधवमालती छंद: यह नया छंद है। सतक (5155) की चार आवृत्तियों से इसका निर्माण होता है। इसकी तीसरी, दसवीं, सतरहवी और चौबीस मात्रा अनिवार्यतः लघु होती है। अंत में दो गृह श्रुतिमधुर होते हैं। संयोग-वियोग, हर्ष एवं वेदना को व्यंजित करने में यह छंद अत्यंत उपयोगी सिद्ध हुज है। गीतों में इस छंद का प्रयोग हुआ है। इसकी लय में उत्सव के बाद का मधुर स्मृतियों से भरा अवार होता है। जैसे,

सृष्टि के आरंभ में मैंने उषा के गाल चूमे बाल रवि के भाग्य वाले दीप्त भाल विशाल चूमे। प्रथम संख्या के अरुण दूग चूम कर मैंने सुलाए तारकावलि से सुसज्जित नव निशा के बाल चूमे।

महादेवी वर्मा, निराला, नरेंद्र शर्मा और हरिवंशराय बच्चन, चंद्रप्रकाश सिंह ने इस छेद का विशेष प्रयोग किया है।

मणिबंधक यह छंद मणिबंध का दुगुना होता है। मणिबंध का प्रयोग पंत ने 'गुंजन' में किया है, 'काय से विलोकती तुमको, उया आयातायन से। संध्या उदास फिर जाती, सूने गृह के आंगन से।' इस छंद का यूट प्रयोग सुभद्रा कुमारी चौहान ने किया है। मणिवेध के आधार पर मणिबंधक बना है, जो प्रयोग की दृष्टि से नया छंद है। इस छंद में राम और विषम मात्रिक दोनों ही समप्रवाही संयोग मान्य है। 14 मात्राओं पर यति आती है और 28 मात्राओं के बाद युग्मक अंत्यानुप्रास आता है। यह छंद आत्माभिव्यंजना के अनुकूल है, भवित और श्रृंगारपरक प्रगीतों में यह अधिक जंचता है। जैसे,

मानस मंदिर में प्रोज्ज्वल, आकर्षक दीपशिखा-सी शारद सरिता-अंचल में, मृदु-नर्तित इंदु-विभा-सी पत्ल्लवित प्रणय-कानन में, मोहक वसंत-महिमा-सी, तुम मथित क्षीर-सागर पर, इंदिरा रूप-अतिमा-सी।

नंदन : सुमित्रानंदन पंत इस छंद के आविष्कारक हैं। यह छंद 16 और 12 मात्राओं के योग से बनता है। इसका विषम चरण श्रृंगार का है, सम चरण श्रृंगार के अंतिम जगण (ISI) को घटाकर 12 मात्राओं से बनता है। दोनों चरणों की लय का आधार एक ही है, अतः दोनों का संयोग अनुकूल है। इस छंद में उल्लास, हर्ष और शुभाशंसा की व्यंजना अधिक होती है, अतः यह संयोग श्रृंगार और प्रकृति वर्णन के अनुकूल है। इसके प्रत्येक चरण का आरंभ विषम मात्रिक होता है और अंत में 15 रहते हैं। जैसे,

कोन तुम अतुल, अरूप, अनाम ? अये, अभिनव अभिराम !
मृदुलता ही है बस आकार
मधुरिमा छवि-श्रृंगार
न अंगों में है रंग-उभार
न मृदु उर में उद्‌गार।

मरहठामाधवी: प्राचीन काल में यह छंद झूलना शैली में (11, 8, 10 मात्राओं की यति से) प्रयुक्त होता था। अंत में लघु-गुरु का नियम था। अब इस छंद ने नया रूप धारण कर लिया है। इसके अंत में लघु-गुरु ज्यों के त्यों रहते हैं, पर यति केवल सोलहवी मात्रा के बाद आती है। यह छंद 'सार' छंद के अंतिम गुरु के स्थान पर लघु-गुरु रखने से बनता है। बच्चों के कोरस में यह छंद प्रयुक्त हो सकता है। साथ ही विनोदात्मक अगंभीर श्रृंगार में भी सफल हो सकता है। मैथिलीशरण गुप्त के 'द्वापर' में यह छंद है, मुरली है अपूर्व असि उसकी, विजयी है वह प्रेम का

वह गोधन का धनी, हाथ है, उस उदार का हेम का शिखिशेखर को ध्यान सदा है. सब के योगक्षेम का. राधा चिड़े श्यामता हरि की, है उसके विचुभाल की। बलिहारी, बलिहारी, जय जय, गिरधारी गोपाल की।

'यशोधरा' में इसका प्रयोग हुआ है। इसको अंतिम 13 मात्राएं 'जय कन्हैयालाल को, ठाकुर बैठे पालकी' को लय पर है, जो बालविनोद के लिए उपयुक्त है।

जयलक्ष्मी यह नया छंद चार षष्ठको (3+3 या 2+4 या 4+2) और रगण के योग से बना है। यह छंद 'कुंडल' वर्ग से संबद्ध है। हर्ष, उल्लास और ओजपूर्ण भाव को अभिव्यक्ति इस छंद में सफलता से होती है।

उत्कंठा

इस छंद का प्रयोग बिल्कुल नया है। इसमें 16 मात्राओं के बाद यति आती है, पर सम चरण (14 मात्राएं) अष्टक और दो त्रिकलों के योग से बनता है। अंत में गुरु-लघु अनिवार्यतः आता है। मैथिलीशरण गुप्त की 'यशोधरा' से उदाहरण है.

उठती है अंतर में कैसी, एक मिलन जैसी उमंग, लहराती है रोम-रोम में, अहा! अमृत की सी तरंग

यह छंद 'हल्दीघाटी' में भी प्रयुक्त हुआ है।

आंसू : यह छंद जयशंकर प्रसाद द्वारा रचित मौलिक छंद है। इसके प्रत्येक चरण में चौदह मात्राएं होती हैं, किंतु अंत में गुरु का होना आवश्यक है। इसके प्रत्येक चरण में कम से कम एक चौकल (चतुष्कल) का होना भी आवश्यक है। जैसे,

शशि मुख पर घूंघट डाले
अंचल में दीप छिपाए
जीवन की गोधूली में
कौतूहल से तुम आए।

दोनों पंक्तियों में चौदह-चौदह मात्राएं है। अंत में एक गुरु है तथा प्रत्येक में एक चौकल है। यह आंसू छंद है।

सोहर: जिस छंद के प्रत्येक चरण में इक्कीस मात्राएं हों तथा अंत में लघु हो, वहां सोहर छंद होता है। अंत में एक चतुष्कल गण हो तो छंद का सौदर्य बढ़ जाता है। सोहर वस्तुतः मंगलगीत है, इसे 'मंगल' भी कहा जाता है- 'जो यह मंगल गावइ, गाइ सुनावइहो, रामा सो बैकुंठे जाइ सुनेया फल पावड हो।' 'रामचरितमानस' में 'मंगल' का उल्लेख मिलता है। तुलसीदास की कृतियों 'जानकी मंगल', 'पार्वती मंगल' और 'रामलला नहछू' में इसका प्रयोग हुआ है। रामनरेश त्रिपाठी ने लोकप्रचलित सोहर गीतों का संग्रह 'कविता कोमुदी' तथा 'ग्राम गीत' में किया है।

हीर : जिस पद्य के प्रत्येक चरण में तेईस मात्राएं हों तथा उन्हें पहले तीन षटकलों से, फिर रगण से सजाया गया हो और षटकलों का विन्यास भी पहले एक गुरु और फिर 'चार' लघु मात्राओं से किया गया हो, वहां होर छंद होता है। हिंदी के कवियों ने इसे हौर, हीरा, हीरक नाम से प्रयुक्त किया है। केशव (रामचंद्रिका), श्रीधर (जंगनामा) तथा सूदन (सुजान चरित्र) ने इसका प्रयोग किया है। केशव और सूदन ने आदि में ग रखने के नियम का पालन नहीं किया है। सूदन ने इसमें वीर रस का अच्छा निर्वाह किया है। इस छंद का मार्मिक रूप 'कुंडल' छंद के अंतिम गुरु के स्थान पर IS रखने से बनेगा। केशव ने इस

छंद का प्रयोग किया है। जैसे, **'सुंदरी सब सुंदर प्रति मंदिर पुर यों बनी। मोहन गिरि श्रृंगन पर मानहुं महि मोहिनी'।**

वीर : जिस पद्य के प्रत्येक चरण में इकतीस मात्राएं हो, क्रमशः सोलहवीं और पंद्रहवी मात्राओं पर यति हो और अंत में गुरु-लघु का योग हो वहां वीर छंद होता है। इसे 'आल्हा' छंद भी कहा जाता है। इस छंद की लय का विकास लोक प्रचलित वीर-गीतियों से संबद्ध है। संभवतः वीर रस में प्रयुक्त होने के कारण इसे वीर नाम दिया गया। यह छंद वर्णनात्मक है और सभी प्रकार के वर्णनों में प्रयुक्त हुआ है। हिंदी में सुंदरदास, तुलसी, सूर और मीरा ने इस छंद का प्रयोग किया है। इस छंद की लोकप्रियता के कारण इसे रामायण की कथा के लिए राधेश्याम कथावाचक ने अपनाया है। श्यामनारायण पांडेय के वीरकाव्य में इसकी लय अपनाई गई है। पंत ने 'अनंग' कविता में इसका मधुर रूप प्रस्तुत किया है। 'कामायनी' का प्रथम सर्ग इसी छंद में निबद्ध है, **'हिमगिरि के उत्तुंग शिखर पर, बैठ शिला को शीतल छांह'।**

मधुमालती लता : यह छंद सप्तक (5155) की चार आवृत्तियों में गुरु-लघु जोड़ने से अथवा 'रूपमाला के आदि में सप्तक जोड़ने से बनता है। जैसे,

यह खुला नभ, यह खुला नभ, खिल रही ये चांदनी अनमोल यह अमृत की दृष्टि खिलती कुमुदिनी रची सृष्टि दृग उर खोल।

गोपी श्रृंगार : इस छंद के विषम चरण गोपी छंद (15 मात्राएं, आदि लघु-गुरु, अंत गुरु-गुरु) और सम चरण श्रृंगार छंद (16 मात्राएं, अंत गृह लघु, आदि त्रिकल) से बनता है। प्रसाद की 'झरना' से उदाहरण है,

हृदय की व्याकुल ज्वाला से, हुए व्याकुल हम उस दिन पूर्ण, देखती प्यासी आंखें थीं, रस भरी आंखों को मदघूर्ण।

श्रृंगार-गोपी अर्द्धसम रूप में इसके विषम चरण श्रृंगार छंद के और सम चरण गोपी छंद के होते हैं। 'झरना' संग्रह से ही उदाहरण है,

धूप थी कड़ी पवन या उष्म, धूलि की भी थी कमी नहीं।
भूलकर विश्व खेल में व्यस्त रहे हम उस दिन कभी नहीं।

4.5 मुक्त छंद की अवधारणा

मुक्त छंद का कवि प्रत्येक कोण से किसी परंपरागत ढांचे का अनुकरण करने के बदले, लय को उत्कृष्टतर करने की चेष्टा करता है। मुक्त छंद में न अंत्यानुप्रास होता है और न नियमित छंदबद्धता होती है। मुक्त छंद का प्रयोग हिंदी काव्य के क्षेत्र में विद्रोहात्मक रहा है। इसे 'स्वच्छंद छंद' भी कहा गया है। मुक्तछंद छंदशास्त्र के परंपरागत सर्वस्वीकृत नियमों का उल्लंघन करता है। चरणों की अनियमित, असमान स्वच्छंद गति और भावानुकूल यतिविधान इत्यादि मुक्त छंद की विशिष्टताएं हैं। मुक्त छंद आधुनिक चेतना का परिणाम है। एक ओर यह छंद के बंधन से मुक्ति का विधान है तो दूसरी ओर

सामाजिक मुक्ति का विधान। परिमल की भूमिका में निराला लिखते हैं -" मनुष्यों की मुक्ति की तरह कविता की भी मुक्ति होती है। मनुष्य की मुक्ति बंधन से मुक्ति में निहित है तो कविता की मुक्ति छदों के शासन से मुक्ति में निहित है "।

निराला के मुक्त छंद का विरोध भी कम नहीं हुआ। निराला के छंद को केंचुआ छंद कहा गया। निराला की रचनाएं संपादकों ने छापने से मना कर दिया। किन्तु निराला की रचनाएं मुक्त छंद में प्रकाशित होती रहीं ।अनामिका संग्रह की कवितायेँ मुक्त छंद में ही हैं। बहने दो / रोक टोक से कभी नहीं रूकती हैं /यौवन मद की बाढ़ नदी की / किसे देख झुकती हैं। जूही की कली, रेखा, जागो फिर एक बार, कवि, पंचवटी प्रसंग, जागरण आदि कवितायेँ मुक्त छंद की ही कवितायेँ हैं।

अभ्यास प्रश्न) 1

सही/गलत का चुनाव कीजिये।

1. प्राकृत पैन्गलम छंद सम्बन्धी ग्रन्थ है।
2. भिखारीदास ने छंद सम्बन्धी ग्रन्थ लिखा है।
3. छंद प्रभाकर के रचयिता जगन्नाथ प्रसाद भानु हैं।
4. मंदाक्रांता मात्रिक छंद है।
5. दोहा प्रबंध रचना में प्रयुक्त होता है।
6. चौपाई के प्रत्येक चरण में 16 मात्राएँ होती हैं।
7. रोला में प्रत्येक चरण में 24 मात्राएँ होती हैं।
8. कुंडलिया के प्रत्येक चरण में 24 मात्राएँ होती हैं।
9. मुक्त छंद के प्रवर्त्तक निराला हैं।
10. कालिदास ने मेघदूतम में मंदाक्रांता छंद का प्रयोग किया है।

4.6 सारांश

काव्यांग विवेचन सम्बन्धी पाठय पुस्तक की यह चौथी इकाई है। छंद सम्बन्धी इस इकाई का आपने अध्ययन किया। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि -

- छंद कविता के आंतरिक अनुशासन हैं। छंद कविता की लय को नियंत्रित करते हैं... छंद कविता के कथ्य को नियंत्रित करते हैं।
- छंद के दो मुख्य प्रकार थे - वर्णिक और मात्रिक।
- मध्यकाल तक की कविता छंद प्रधान कविता थी ।आधुनिक काल तक आते-आते कविता में छंद की अनिवार्यता कम होती चली गयी।
- आधुनिक काल में निराला ने मुक्त छंद का प्रवर्तन किया। मुक्त छंद का सम्बन्ध आधुनिक विचारों से है।

4.7 शब्दावली

- पिंगल शास्त्र – छंद शास्त्र
- वर्णिक छंद- वर्णों की संख्या से अनुशासित छंद
- मात्रिक छंद – मात्राओं के अनुशासन से नियत छंद
- मुक्त छंद- छंद के अनुशासन से मुक्ति

4.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न) 1

1. सही
2. सही
3. सही
4. गलत
5. गलत
6. सही
7. सही
8. सही
9. सही
10. सही

4.9 संदर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिंदी साहित्य ज्ञान कोश- संपादक शम्भुनाथ
2. काव्य के तत्व – देवेन्द्र नाथ शर्मा

4.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. हिंदी आलोचना के बीज शब्द- बच्चन सिंह
2. हिंदी की पारिभाषिक शब्दावली- अमरनाथ

4.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. मात्रिक छंदों पर विचार कीजिये।
2. छंद का महत्त्व निरुपित कीजिये।

इकाई 5 : नायक भेद

इकाई की रूपरेखा

5.0 उद्देश्य

5.1 प्रस्तावना

5.2 नायक

5.3 नायक भेद

5.4 सारांश

5.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

5.6 शब्दावली

5.7 सहायक ग्रन्थ

5.8 निबंधात्मक प्रश्न

5.0 उद्देश्य

काव्यांग परिचय के इस प्रश्न-पत्र में अब तक आपने हिंदी काव्य-शास्त्र का विकास का अध्ययन करने के साथ-साथ अलंकर, रस, छंद इत्यादि का अध्ययन करते हुए आपने जाना कि हिंदी में इन विषयों के विकास में संस्कृत अथवा भारतीय काव्यशास्त्र का विशेष योगदान है। इस अध्याय में आप नायक एवं नायक भेद को समझ सकेंगे। हिंदी साहित्य में नायकों एवं प्रतिनायकों की परिकल्पना कैसे की गयी है। इन नायकों के क्या भेद है और किस प्रकार से यह अपनी छवि निर्मित करते हैं। भारतीय काव्यशास्त्र में एक रोचक कहानी मिलती है। उसके बहाने नायक एवं नायिका के भेद को समझा जा सकता है। कहानी यूँ है कि सरस्वती-पुत्र अपने जन्म के तुरंत बाद ही अपनी माता सरस्वती की प्रार्थना कवितामयी छंदों में करता है। इससे माँ सरस्वती प्रसन्न होती हैं और उन्हें आशीर्वाद देते हुए उसका नाम काव्य-पुरुष रखती हैं तथा कहती हैं कि समय आने पर उनके आशीर्वाद से वाल्मीकि के मुख से तुम्हारी अभिव्यक्ति होगी, और उसे श्रेष्ठ कविता के रूप में जाना जाएगा। उसके बाद सरस्वती उन्हें वहाँ छोड़ कर स्नान करने चली जाती हैं। कुछ देर बाद उशनस ऋषि काव्य-पुरुष को अकेला देख कर अपने आश्रम ले जाते हैं। सरस्वती वापस आने पर काव्य-पुरुष को नहीं पाकर काव्य-पुरुष को खोजने लगती हैं। काव्य-पुरुष का पता वाल्मीकि ऋषि सरस्वती को बताते हैं। इस प्रकार सरस्वती उन्हें काव्य-सृजन का आशीर्वाद देती हैं। एक बार काव्य-पुरुष माता सरस्वती से मिलने ब्रह्म लोक जाते हैं किन्तु माँ से मुलाक़ात नहीं होने पर निराश होकर काव्य-पुरुष चला जाता है। उसे मानने के लिए काव्य-नायिका जिस प्रकार के वस्त्रों, भाषा इत्यादि का प्रयोग करती है और जिन प्रदेशों में काव्य-पुरुष जैसा आचरण करता है वह वैसा ही वृत्ति बन जाता जाता है। वही मार्गी, पांचाली, कौशिकी, गौडी रीति बन जाता है। इस कहानी से नायक-नायिका के लक्षणों के साथ साथ नायक के दैवीय उत्पत्ति का संकेत मिलता है। इस अध्याय में हम नायक एवं नायकों के भेद से परिचित होंगे।

5.1 प्रस्तावना

इस अध्याय के अध्ययन के पश्चात् आप—

- नायकों की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- नायकों के भेदों अथवा प्रकारों से परिचित हो सकेंगे।
- प्रतिनायकों की अवधारणा को समझ सकेंगे।
- प्रतिनायकों के भेदों अथवा प्रकारों को समझ सकेंगे।

5.2 नायक

नायक की अवधारणा

संस्कृत काव्यशास्त्र में रस संप्रदाय के तहत नायक-नायिका भेद का निरूपण किया गया है। हिंदी साहित्य में इस तरह का कार्य सर्वाधिक रीतिकाल के दौरान किया गया है। विभाव के आलम्बन.विभाव एवं उद्दीपन विभाव नाम से दो भेद स्वीकार किए गए हैं। इनमें आलम्बन विभाव का अर्थ है नायक तथा नायिका। आलम्बन विभाव के अन्तर्गत नायक की चर्चा हुई है, इसी सन्दर्भ में नायक का लक्षण करते हैं। नायक की परिभाषा शास्त्रों में इस प्रकार दिया गया है—

नायक वह है जो त्यागी (त्याग करने वाला) हो, कृती अर्थात् महान कार्यों का कर्ता हो, कुलीन यानी अच्छे वंश में उत्पन्न हो, बुद्धि तथा विवेक से युक्त हो, रूपयौवनोत्साही अर्थात् सुन्दरता एवं यौवन से परिपूर्ण हो, दक्ष अर्थात् कुशल हो, अनुरक्तलोक अर्थात् जनता का स्नेहभाजन हो यानी जनता उससे प्रेम करे, जनता उसे बहुत पसन्द करे तेज अर्थात् तेजस्वी हो, वैदग्ध्य अर्थात् विद्वान् अथवा चतुर हो, अच्छे चरित्र से युक्त हो। इस प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति नायक अथवा नेता कहलाता है।

5.3 नायक-भेद

नायक भेद

भरत ने नायक के चार भेद किए हैं : धीरललित, धीरप्रशान्त, धीरोदात्त, धीरोद्धत। ये भेद नाटक के नायक के हैं। "अग्निपुराण" में इनके अतिरिक्त चार और भेदों का उल्लेख है : अनुकूल, दक्षिण, शठ, धृष्ठ। ये भेद स्पष्ट ही शृंगार रस के आलंबन विभाव के हैं। भोज (11वीं शताब्दी) ने "सरस्वतीकंठाभरण" तथा "शृंगारप्रकाश" में इन दो के अतिरिक्त अन्य अनेक वर्गीकरणों का उल्लेख किया है। किन्तु उनमें से केवल एक वर्गीकरण ही, जिसका उल्लेख पुरुष के भेदों के रूप में भरत ने भी किया था, परवर्ती लेखकों को मान्य हुआ : उत्तम, मध्यम, अधम। भानुदत्त (1300 ई.) ने "रसमंजरी" में एक नया वर्गीकरण दिया, जिसे आगे चलकर प्रधान वर्गीकरण माना गया। यह है : पति, उपपति वेशिक। अनुकूल इत्यादि भेद पति और उपपति के अंतर्गत स्वीकार किए गए। भानुदत्त ने प्रोषित नाम के एक और भेद का उल्लेख किया। रूप गोस्वामी (1500 ई.) ने "उज्ज्वलनीलमणि" में वैशिक स्वीकार नहीं किया। उन्होंने कृष्ण को एकमात्र नायक माना है। हिंदी में नायकभेद के प्रमुख लेखकों ने उपर्युक्त वर्गीकरणों में से प्रथम को छोड़कर शेष को प्राय: स्वीकार कर लिया है। पति, उपपति, वैशिक को मुख्य वर्गीकरण मानकर अनुकूल, दक्षिण, शठ, घृष्ठ भेदों को पति के अंतर्गत रखा है (रहीम : "बरवै नायिकाभेद", 1600 ई.; मतिराम; "रसराज", 1710 ई.; पद्माकर; "जगद्विनोद", 1810 ई.) नायक के उत्तम, मध्यम, अधम भेदों को हिंदी में केवल कुछ लेखकों ने ही स्वीकार किया है, जिनमें सुंदर (1631 ई.), तोप (1634 ई.) और रसलीन (1742 ई.) प्रमुख हैं। नायक के कुछ अन्य भेद इस

प्रकार हैं : प्रोषित, मानी, चतुर, अनभिज्ञ। मानी के दो भेद हैं : रूपमानी, गुणमानी। चतुर के भेद भी दो हैं: वचन चतुर, क्रिया-चतुर। रसलीन ने इन्हीं के साथ स्वयंदूत नायक का भी कथन किया है। अनभिज्ञ को भानुदत्त के अनुकरण पर पद्माकर ने भी नायकाभास माना है। केशव (1591 ई.) ने नायक के प्रछन्न और प्रकाश भेद भी माने हैं। रसलीन के मत से उपपति के तीन तथा वैशिक के दो उपभेद हैं। हिंदी के नायक-नायिका-भेद संबंधी साहित्य का निर्माण अधिकांशत: रीतिकाल में हुआ है। नायक-नायिका-भेद की यह काव्यसरिता दो सशक्त धाराओं के संगम का परिणाम है। इनमें से पहली धारा है साहित्यशास्त्र एवं नायक-नायिका-भेद संबंधी शास्त्रीय ग्रंथों की, जिसका आरंभ भरत के "नाट्शास्त्र" से होता है; तथा दूसरी धारा है कृष्ण और गोपियों की श्रृंगार क्रीड़ाओं के वर्णन की, जो "हरिवंश", "पद्म", "विष्णु" "भागवत" तथा "ब्रह्मवैवतं" पुराणों की उपत्यकाओं में बहती हुई और उमापतिधर, जयदेव, चंडीदास, विद्यापति, मीरा, नरसिंह मेहता तथा सूरदास आदि अनेक भक्त कवियों की मधुर वाणी से विलसित होती हुई, निम्बार्क, वल्लभ तथा चैतन्य जैसे महान आचार्यों के समर्थन से संपुष्ट हुई है। आचार्यत्व की दृष्टि से काव्यशास्त्र के इस अंग की हिंदी लेखकों की देन असाधारण है। काव्यसौष्ठव की दृष्टि से भी विद्वानों के मतानुसार इतने ऊँचे स्तर के साहित्य का इतने बड़े परिमाण में निर्माण हिंदी साहित्य के और किसी काल में नहीं हुआ।

नायक के भेद

नायक चार प्रकार के होते हैं—

1. धीरोदात्त
2. धीरोद्धत
3. धीरललित
4. धीरप्रशांत

धीरोदात्त : ऐसा नायक जो अविकत्थन अर्थात् आत्मप्रशंसा से रहित, क्षमावान् अर्थात् क्षमा करने वाला, अतिगम्भीर, महासत्त्व अर्थात् सुख तथा दुःख में समान रहने वाला स्थेयान् अर्थात् स्थिर प्रकृति वाला, निगूढमान अर्थात् स्वाभिमानी, दृढव्रत अर्थात् सत्यप्रतिज्ञ नायक धीरोदात्त कहलाता है। अविकत्थन का तात्पर्य आत्मलाघा अर्थात् आत्मप्रशंसा से रहित है। महासत्त्व का अर्थ है-हर्ष तथा दुःख से परेशान नहीं होने वाला (दोनों परिस्थितियों में एक जैसा रहने वाला) निगूढमान का अभिप्राय विनम्रता से अहंकार को जीतने वाला, दृढवत्र का आशय है- सभी कार्यों को श्रद्धा से करने वाला। उदाहरण जैसे - राम तथा युधिष्ठिर इत्यादि।

धीरोद्धत : ऐसा नायक जो दूसरों को ठगने में कुशल, प्रचण्ड अथार्त् उग्र.स्वभाव से युक्त, चपल अर्थात् चंचल स्वभाव वाला, अहंकारदर्पभूयिष्ठ अर्थात् अहंकार और अत्यधिक दर्प से युक्त यानी मैं सबसे

महान् हूँ इस भाव से तथा शूरता एवं वीरता आदि का अभिमान दर्प वाला, आत्मश्लाघा निरत अर्थात् अपनी प्रशंसा करने वाला नामक विद्वानों के द्वारा धीरोद्धत कहा गया है। उदाहरण जैसे - भीमसेन इत्यादि।

धीरललित : ऐसा नायक जो निश्चिन्त अर्थात् सर्वदा चिन्ता से मुक्त रहने वाला, मृदु अर्थात् कोमल स्वभाव वाला तथा दिन रात नृत्य एवं गीत इत्यादि में तत्पर रहने वाला कलाव्यसनी नायक धीरललित होता है। जैसे-तीसरी कसम उर्फ़ मारे गए गुलफ़ाम का नायक हीरामन।

धीरप्रशान्त : ऐसा नायक जिसमें नायक के त्याग आदि सामान्य गुण अत्यधिक मात्रा में हो तथा जो कुलीन आदि वर्ग का हो, वह धीरप्रशान्त नायक कहलाता है। उदाहरण गोदान का नायक होरी।

शृंगार रस में वर्णित नायकों के अन्य प्रकार –

शृंगार रस में चार प्रकार के नायकों का वर्णन किया गया है। ये चार प्रकार हैं—

1. दक्षिण
2. धृष्ट
3. अनुकूल
4. शठ

इन चारों प्रकार के नायकों के चार उपभेद भी बताये गए हैं। इस प्रकार शृंगार रस के अनुसार नायकों के कुल 16 भेद हो जाते हैं। धीरोदात्त इत्यादि नायकों में प्रत्येक के चार-चार भेद होकर नायक सोलह प्रकार के हो जाते हैं।

धीरोदात्त—

1. धीरोदात्त दक्षिण नायक
2. धीरोदात्त धृष्ट नायक
3. धीरोदात्त अनुकूल नायक
4. धीरोदात्त शठ नायक

धीरोद्धत—

1. धीरोद्धत दक्षिण नायक
2. धीरोद्धत धृष्ट नायक
3. धीरोद्धत अनुकूल नायक
4. धीरोद्धत शठ नायक

धीरललित—

1. धीरललित दक्षिण नायक

2. धीरललित धृष्ट नायक

3. धीरललित अनुकूल नायक

4. धीरललित शठ नायक।

धीरप्रशान्त—

1. धीरप्रशान्त दक्षिण नायक

2. धीरप्रशान्त धृष्ट नायक

3. धीरप्रशान्त अनुकूल नायक

4. धीरप्रशान्त शठ नायक

दक्षिण नायक : ऐसा नायक जो एक से अधिक अर्थात् दो या तीन या चार अथवा इससे भी अधिक नायिकाओं के साथ समान राग अर्थात् समान प्रेम करने वाला हो उसको दक्षिण नायक कहते हैं अर्थात् दो, तीन अथवा चार अथवा इससे अधिक नायिकाओं में तुल्य यानी एकसमान प्रेम करने वाले को दक्षिण नायक कहते हैं।

धृष्ट नायक : ऐसा नायक जो प्रेम में अपराधी होने पर भी, बेहिचक प्रेमिका के डाँटने पर भी जिसे लाज अथवा शर्म नहीं आती, अपने दोषों के प्रकट हो जाने पर भी जो उनको छिपाने का प्रयास झूठ बोलकर करता है, वह धृष्ट नायक कहलाता है।

अनुकूल नायक : ऐसा नायक जो किसी एक नायिका में ही प्रेम रखता हो उसे अनुकूल नायक कहते हैं। अनुकूल नायक एक ही नायिका में अनुरक्त रहता है।

शठ नायक : ऐसा नायक जो किसी अन्य नायिका से प्रेम करे और अपनी पहली प्रेमिका से बाहरी प्रेम जताकर पीठ पीछे उसका अनिष्ट करे, वह शठ नायक होता है। जो किसी एक नायिका में असली प्रेम सम्बन्ध को तथा किसी दूसरी नायिका में बाहरी प्रेम प्रदर्शित करता है तथा उसका गुपचुप अनिष्ट करता रहता है, वह शठ नायक कहलाता है।

इन नायकों के उत्तम, मध्यम और अधम रूप होने से सब मिलाकर 48 भेद हो जाते हैं। सोलह प्रकार के नायकों में प्रत्येक के उत्तम, मध्यम तथा अधम ये तीन भेद मिलकर कुल 48 भेद हो जाते हैं। (16X3=48) इस प्रकार नायक के 48 भेद हो जाते हैं।

नायक के सहायक

नायक के विभिन्न प्रकार के सहायक होते हैं जो नायक की प्रत्येक परिस्थिति में सहायता करते हैं। नायक का इतिहास जहाँ दूर तक चला जाता है, वहाँ उसका एक सहायक भी चित्रित किया जाता है, यह सहायक नायक की अपेक्षा कम गुण वाला होता है, इसे पीठमर्द कहा जाता है। कार्य विशेष की

अधिकता के कारण जो सम्पूर्ण कार्यों को अपनी पीठ पर ले लेता है अर्थात् उन उन कार्यों को जो सम्पूर्ण रूप से भलीभाँति कर लेता है, उसे पीठमर्द कहते हैं। प्रासंगिक इतिवृत्त के बड़ा होने पर नायक के साथ एक सहायक भी हुआ करता है जो नायक से कम गुणों वाला होता है अर्थात् हर परिस्थिति में वह नायक की सहायता करता है अतःउसे पीठमर्द कहते हैं। उदाहरण जैसे-राम जैसे नायक के लिए सुग्रीव जैसे सहायक।

ये सहायक भक्त अर्थात् स्वाभिमान हुआ करते हैं, ये नर्म निपुण होते हैं, ये मानिनी नायिका को मनाने में बहुत चतुर होते हैं, ये सच्चरित्र हुआ करते हैं। नायक के सहायक हैं—

1. **विट**
2. **चेट**
3. **विदूषक**

विट : ऐसा सहायक नायक जो सुख एवं भोग में अपनी सम्पूर्ण सम्पत्ति लुटा चुका हो, धूर्त हो,जो किसी कला में निपुण हो, वेश और उपचार में कुशल हो अर्थात् वेश्याओं के व्यवहार को जानने वाला हो, वाग्मी अर्थात् बातचीत में कुशल हो, मधुर हो, समाज में जिसका बहुत मान-सम्मान हो, गोष्ठ में जिसका सम्मान हो, ऐसा सहायक विट कहलाता है।

चेट : ऐसा नायक जिसकी प्रसिद्धि चारों ओर हों, जिसे सभी जानते हैं, उन्हें चेट कहते हैं।

विदूषक : विदूषक वह होता है जिसका नाम फूलों अथवा वसन्त इत्यादि ऋतुओं के नाम पर रखा जाता है। जिसमें अपने कार्य, शरीर, वेशभूषा तथा भाषा से दूसरों को हँसाने की क्षमता रहती है, जिसे दूसरों से झगड़ा करने में आनन्द आता है, जो अपने कार्य में कुशल होता है।

नायक के अर्थ सहायक

नायक के अर्थ-चिन्तन में सहायकों को कहते हैं- मन्त्री। यानी नायक के अर्थ-चिन्तन में सहायता करने वाले को मन्त्री कहते हैं इनका मुख्य कार्य नायक को सलाह इत्यादि देना है यथा दूसरे राष्ट्र के लिए कब क्या करना चाहिए? इसमें राजा की सहायता करने वालों में मन्त्री का स्थान अग्रगण्य है।

नायक के अन्तःपुर के सहायक

ये ऐसे सहायक होते हैं जो नायक के अन्तःपुर के सहायक होते हैं। ये नायक की सहायता करते हैं, विशेष रूप से काम से सम्बन्धित सन्दर्भ में। बौने, नपुंसक, किरात, म्लेच्छ, शकार यानी साला और कुबड़े इत्यादि नायक के अन्तःपुर के सहायक हैं।

नायक के दण्ड सहायक

नायक के दण्ड सहायक उन्हें कहते हैं जो नायक अथवा राजा की सहायता दण्ड विधान में राजा की मदद करते हैं। मित्र, राजकुमार, वनचर यानी वन में घूमने वाले, सामन्त तथा सैनिक इत्यादि राजा के दण्ड सहायक होते हैं।

नायक के धर्म सहायक

ऋत्विक् अर्थात् याज्ञिक, पुरोहित, वेद को जानने वाले तथा तपस्वीगण नायक के धर्म सहायक होते हैं। **पीठमर्द आदि सहायक उत्तम है, विट तथा विदूषक मध्यम है, शकार तथा चेट आदि अधम सहायक कहे गये हैं।**

नायक के दूत

ये नायक के सहायक ही होते हैं, नायक के दूत वे होते हैं जिन्हें किसी अभीष्ट कार्य को सिद्ध करने के लिए कहीं भेजा जाता है। यह तीन प्रकार के होते हैं—

1. निसृष्टार्थ

2. मितार्थ

3. सन्देशहारक

ये सहायक नायिका भी हो सकती हैं। उन्हें दूतियाँ कहते हैं। दूतियाँ भी दूतों की तरह ही होती है। किसी भी कार्य से जिस व्यक्ति को कहीं प्रेषित अथवा भेजा जाता है उसे दूत कहते हैं।

1. **निसृष्टार्थ :** ये ऐसे दूत होते हैं जो दोनों पक्षों की मन की बात जानकर स्वयं अपनी प्रतिभा से समाधान करता है और प्रत्येक कार्य को जो समीचीन तरह से सम्पादित करता है।
2. **मितार्थ दूत :** ऐसा दूत जो बहुत ही कम बोले लेकिन कार्य को सिद्ध कर दे वह मितार्थक दूत कहलाता है।
3. **सन्देशहारक दूत :** जो उतनी ही बात करे जितनी उसे कही गई हो, वह सन्देशहारक दूत कहलाता है।

नायक के गुण

नायकों के कुछ गुण होते हैं जो उन्हें नायक बनाते हैं और यहीं उनके विभाजन अथवा प्रकारों को तय करने में मदद करते हैं। नायक के आठ गुण बताये गए हैं, जो इस प्रकार है—

1. **शोभा**
2. **विलास**
3. **माधुर्य**
4. **गाम्भीर्य**

5. **धैर्य**
6. **तेज**
7. **ललित**
8. **औदार्य**

शोभा : सभी कार्यों में कुशल, सत्य, महान, उत्साह, सभी लोगों से प्रेम करने वाला, छोटों पर दया और बड़ों के साथ स्पर्धा के गुणों से युक्त नायक शोभा गुण का स्वामी होता है।

विलास : दृष्टि में धीरता, चाल में विचित्रता यानी आश्चर्य, वाणी में मन्द हास्य (मधुरता) ये सभी विलास नामक गुण की श्रेणी में आते हैं।

माधुर्य : मन में क्षोभ के कारणों के रहते हुए भी मन की स्थिरता एवं शान्ति को माधुर्य कहते हैं।

गाम्भीर्य (गम्भीरता) : भय, शोक, क्रोध तथा हर्ष इत्यादि की निर्विकारता को गाम्भीर्य कहते हैं।

धैर्य : बहुत विघ्नों के आने पर भी अपने व्यवसाय अर्थात् कार्य से विचलित नहीं होना धैर्य कहलाता है अर्थात् विपरीत परिस्थितियों में भी कर्तव्यच्युत न होना धैर्य कहलाता है।

तेज : दूसरे के द्वारा किए गए आक्षेप तथा अपमान की परवाह किए बिना अपने कार्य को करते रहना तेज कहलाता है।

ललित : बोलचाल, वेशभूषा तथा शृंगार की चेष्टाओं में यानी प्रेम लीला में मधुरता को ललित कहा जाता है।

औदार्य :प्रिय भाषण से युक्त होकर किसी वस्तु को देना तथा शत्रु और मित्र में समता अर्थात् समानता का भाव रखना औदार्य अर्थात् उदारता कहलाता है।

प्रतिनायक

वस्तुतः प्रतिनायक का अर्थ है जो नायक के चरित के सर्वथा विपरीत हो। बिना प्रतिनायक के नायक का चरित वर्णन नहीं किया जा सकता है। नायक के समान ही प्रतिनायक का चरित भी साहित्य में वर्णित किया जाता है। प्रतिनायक धीरोद्धत स्वभाव का होने के कारण अहंकारी, रौद्रस्वभाव से युक्त होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रतिनायक का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कहते हैं- नायक का प्रतिस्पर्धी और धीरोद्धत, पाप करने वाला तथा व्यसनों में डूबा रहने वाला प्रतिनायक कहलाता है। उदाहरण : राम का प्रतिनायक रावण।

अभ्यास प्रश्न

1. नायक की परिभाषा बताइए।

.....

.....

.....

2. नायक के चार भेदों के नाम लिखिए।

.....

.....

.....

3. प्रतिनायक की परिभाषा बताइए।

.....

.....

.....

5.4 सारांश

प्रस्तुत इकाई में आपने नायक का स्वरूप एवं इसके चार भेदों को समझा। इसी क्रम में विस्तृत रूप से धीरोदात्त इत्यादि नायक के प्रकारों का विस्तारपूर्वक आपने अध्ययन किया। फिर दक्षिण, धृष्ट, अनुकूल और शठ नामक इन चार भेदों के साथ नायक के सोलह भेदों को आपने समझा। फिर इनके उत्तम, मध्यम तथा अधम भेद मिलाकर नायक के कुल 48 भेदों को आपने समझा। इसके उपरान्त नायक के विविध सहायकों के बारे में आपने जाना जो कि नायक की विविध प्रकार से सहायता करते हैं। जिनमें विट, चेट तथा विदूषक प्रमुख है। इसी तरह नायक के अर्थ सहायक, नायक के अन्तःपुर के सहायक, नायक के दण्ड सहायक, नायक के धर्म सहायक इत्यादि को भी आपने विस्तारपूर्वक समझा। इन्हीं सहायकों में उत्तम, मध्यम तथा अधम इन तीन भेदों से सम्पूर्ण सहायकों के बारे में आपने जाना। इसी क्रम में नायक के दूत, नायक के आठ प्रकार के सात्त्विक गुणों के लक्षण अध्ययन किया।

5.5 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1. नायक वह है जो त्यागी (त्याग करने वाला) हो, कृती अर्थात् महान कार्यों का कर्ता हो, कुलीन यानी अच्छे वंश में उत्पन्न हो, बुद्धि तथा विवेक से युक्त हो, रूपयौवनोत्साही अर्थात् सुन्दरता एवं यौवन से परिपूर्ण हो, दक्ष अर्थात् कुशल हो, अनुरक्तलोक अर्थात् जनता का स्नेहभाजन हो यानी जनता उससे प्रेम करे, जनता उसे बहुत पसन्द करे तेज अर्थात् तेजस्वी हो, वैदग्ध्य अर्थात् विद्वान् अथवा चतुर हो, अच्छे चरित्र से युक्त हो। इस प्रकार के गुणों से युक्त व्यक्ति नायक अथवा नेता कहलाता है।

2. नायक चार प्रकार के होते हैं—

1. धीरोदात्त

2. धीरललित
3. धीरप्रशांत
4. धीरोद्धत

3. प्रतिनायक का अर्थ है जो नायक के चरित के सर्वथा विपरीत हो। बिना प्रतिनायक के नायक का चरित वर्णन नहीं किया जा सकता है। नायक के समान ही प्रतिनायक का चरित भी साहित्य में वर्णित किया जाता है। प्रतिनायक धीरोद्धत स्वभाव का होने के कारण अहंकारी, रौद्रस्वभाव से युक्त होता है। आचार्य विश्वनाथ प्रतिनायक का स्वरूप प्रदर्शित करते हुए कहते हैं- नायक का प्रतिस्पर्धी और धीरोद्धत, पाप करने वाला तथा व्यसनों में डूबा रहने वाला प्रतिनायक कहलाता है।

5.6 शब्दावली

अविकत्थन : आत्मश्लाघा अर्थात् आत्मप्रशंसा से रहित

महासत्त्व : हर्ष तथा दुःख से परेशान नहीं होने वाला (दोनों परिस्थितियों में एक जैसा रहने वाला)

निगूढमान : विनम्रता से अहंकार को जीतने वाला

दृढवत्र : सभी कार्यों को श्रद्धा से करने वाला

5.7 उपयोगी पुस्तक

1. रीतिकाल की भूमिका : डॉ. नगेन्द्र

2. दशरूपक : आचार्य भोलाशंकर व्यास

5.8 निबंधात्मक प्रश्न

1. नायक का लक्षण लिखते हुए भेदों को उदाहरण सहित प्रतिपादित कीजिए?

2. धृष्ट नायक का उदाहरण एवं लक्षण व्याख्यायित कीजिए?

इकाई 6- नायिका भेद

इकाई की रुपरेखा

6.1 प्रस्तावना
6.2 उद्देश्य
6.3 नायिका भेद-सामाजिक भूमिका
6.4 नायिका भेद – आधार एवं वर्गीकरण
6.5 नायिका भेद भेद – सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि
6.6 नायिका भेद- आधुनिक दृष्टि
6.7 नायिका भेद-गद्य और पद्य का द्वंद्व
6.8 नायिका भेद- मनोभूमि की तलाश
6.9 सारांश
6.10 शब्दावली
6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
6.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
6.14 निबंधात्मक प्रश्न

6.1 प्रस्तावना

नायिका भेद का आधार सामंती दृष्टि रही है। लेकिन एक दृष्टि सौंदर्य की भी रही है। नायिका भेद के पीछे मनुष्य मन की मनोवृत्तियों का विस्तार भी रहा है। वय के आधार पर, मनोवृत्ति के आधार पर, स्थिति के आधार पर...और भी अनेक कारणों से नायिका भेद किये गए हैं। नायिका भेद की पृष्ठभूमि में कामशास्त्र की अपनी भूमिका भी कार्य कर रही है । इसलिए प्रोषितपतिका या प्रगल्भा जैसी नायिकाओं का भी जिक्र मिलता है। नायिका भेद का बड़ा आधार सामाजिक -सांस्कृतिक भी रहा है। इस इकाई में हम नायिका भेद के मनोविज्ञान को गहरे अर्थ में समझने का प्रयास करेंगे। साथ ही नायिका भेद को आधुनिक दृष्टि से देखने का भी प्रयास करेंगे।

6.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन पाठय पुस्तक की नायिका भेद सम्बन्धी यह छठी इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के अध्ययन के पश्चात आप—

- नायिका भेद के अर्थ से परिचित हो सकेंगे।
- नायिका भेद के वर्गीकरण के आधार को समझ सकेंगे ।
- नायिका भेद पर विभिन्न आचार्यों के मतों को जान सकेंगे।
- नायिका भेद के मनोविज्ञान को समझ सकेंगे।
- नायिका भेद को सौंदर्यवादी दृष्टि से देख सकेंगे।
- नायिका भेद को आधुनिक दृष्टि से देख सकेंगे।

6.3 नायिका भेद- सामाजिक भूमिका

नायिका भेद को मनोविज्ञान व सौंदर्य या कला की दृष्टि से गहराईपूर्वक विचार किए जाने की आवश्यकता है। नायिका भेद पुरुष की सौंदर्य दृष्टि व स्त्री मनोविज्ञान के वृहत्तर रूपों से संचालित है। यही बात पुरुष भेद या नायक भेद के संदर्भ में नहीं कही जा सकती। नायक भेद का आधार नायक के गुण या अवगुण बने हैं। शठ नायक, दक्षिण नायक, खलनायक, प्रतिनायक, सह नायक में पुरुष के द्वारा निभाई गई भूमिका है। नायक के प्रचलित रूपों यथा धीरोदात्त, धीरोदत्त, धीरप्रशांत व धीरललित में नायक के गुण अग्रगामी रहे हैं। इनमें धीरललित को छोड़ दिया जाए तो सौंदर्य के तत्व उपेक्षित ही रह जाते हैं। लेकिन यह तो हुई सिद्धांत की बात। शास्त्रीय बात। भारतीय महाकाव्यों में पुरुषों का सौंदर्य वर्णन कम नहीं है। राम जैसे मर्यादा पुरुषोत्तम वाले नायक भी "कोटि मनोज लजावन हारे" हैं। राम सत्य,शील व सौंदर्य का त्रित्व रचते हैं। वाल्मीकि रामायण हो या तुलसी की मानस राम के सौंदर्य के स्थल उपेक्षित नहीं हैं। माघ के किरातार्जुनियम में अर्जुन का सौंदर्य वर्णन हो या रगुवंशम के नायकों

का सौंदर्य वर्णन। बाण ने तो अपने नायक के लिए विशेषणों की झड़ी लगा दी है। कालिदास, माघ, दंडी, बाण जैसे रचनाकारों के नायक पुरुष भेद की व्यावहारिकी रचते हैं। अंतर करने वाली बात यह है कि नायिका भेद का आधार शास्त्रीय रहा है, जबकि पुरुष व नायक भेद नाटकों में तो शास्त्रीय आधार पर रचे गए, किंतु साहित्य की दूसरी विधाओं में यह स्वतंत्र रहा।

नायिका भेद के जितने वृहत्तर आयाम भारतीय साहित्य में मिलते हैं, उतने विश्व के किसी साहित्य में नहीं मिलते। इसका क्या कारण समझा जाए? भारतीय सौंदर्य दृष्टि के साथ भारतीय कलाओं के विकास को भी यहां समझे जाने की आवश्यकता है। कामसूत्र के विकास की अवधि भी वही है, जो भारतीय कलाओं की है। क्या यह अनायास है कि कामसूत्र में 64 कलाओं की सूची मिलती है। कामसूत्र के रचनाकाल को देखें तो यह दिलचस्प तथ्य सामने आता है कि उस समय तक नायिका भेद के शास्त्रीय रूप का विकास नहीं हुआ था। नायिका भेद का संबंध सामंतवाद के पुष्ट होने के बाद का है। भारतीय सौंदर्य परंपरा में नायिका भेद की वृहत्तर छवि का विकास काव्यशास्त्र के विकास के साथ हुआ। रीतिकाल में जब नायिका भेद, बारहमासा आदि की धूम थी, तब भी उनका आधार काव्यशास्त्र बना। यहां विचार किए जाने की आवश्यकता है कि नायिका भेद कृत्रिम, सामंती व शास्त्रीय पद्धति पर विकसित हुआ। जीवन में स्त्री की कर्मवत छवि भी कम न थी। भक्तिकाल में स्त्री कर्म से जुड़ी हुई है, किंतु रीतिकाल की स्त्रियां प्रेम कर सकती हैं, किंतु वे काम नहीं कर सकती। कृत्रिम चीजें समय के साथ समाप्त हो जाती हैं। जैसे नायिका भेद समाप्त हो गया। स्त्री की प्रेमिका की छवि कृत्रिम नहीं है। इसलिए वह साहित्य में भी है। वस्तुत: नायिका भेद के प्रश्न को कला, सौंदर्य व आलंबन की पद्धति के सापेक्ष भी खोजा या देखा जाना चाहिए।

6.4 नायिका भेद: प्रमुख आधार

संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम भरत मुनि ने नायिका भेद पर विचार किया है। उन्होंने नायिकाओं के 21 भेद - देवताशीला, असुरशीला, गंधर्वशीला, यक्षशीला, नागशीला, पतत्रीशीला, पिशाचशीला, यक्षशीला, व्यालशीला, नरशीला, वानरशीला, हस्तिशीला, मृगशीला, मीनशीला, उष्ट्रशीला, मकरशीला, वनशीला, सूकरशीला, वाजीशीला, महिषाशीला, अजाशीला और गौशीला।" किये हैं।

* सामाजिक व्यवहार के आधार पर नारी के तीन भेद बाह्या (कुलीना), आभ्यन्तरा (वेश्या) और बाह्याभ्यन्तरा (अथवा कृतशौचा, अर्थात् वेश्यावृत्ति त्याग कर शुद्ध रूप से प्रेमी के साथ रहने वाली); और इसी आधार पर दो अन्य भेद- कुलजा और कन्यका।

* नायक के साथ संयोग अथवा वियोग की अवस्थानुसार नायक-नायिका के आठ भेद-वासकसज्जा, विरहोत्कणिठता, स्वाधीनपतिका, कलहान्तरिता, खण्डिता, विप्रलब्धा, प्रोषितभर्तृका और अभिसारिका ।"

इसी प्रकरण में भरत ने खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता और प्रोषित-पतिका की अंत:वेदना का भी उल्लेख किया है, तथा स्वाधीनपतिका के उल्लास और अभिसारिका के अभिसरण-प्रकार की भी

चर्चा की है। इस प्रकार भरत के दृष्टिकोण से उपर्युक्त अष्ट नायिकाएँ इन चार वर्गों में विभक्त की जा सकती हैं।

(क) खण्डिता, विप्रलब्धा, कलहान्तरिता और प्रोषितपतिका

(ख) स्वाधीनपतिका

(ग) अभिसारिका

(घ) वासकसज्जा और विरहोत्कण्ठिता।

- नायक के प्रति प्रेम के आधार पर नारी के तीन भेद मदनातुरा, अनुरक्ता और विरकत्ता
- प्रकृति के आधार पर नायिका के तीन भेद उत्तमा, मध्यमा और अधमा।'

प्रथमयौवना, द्वितीययौवना, तृतीय- (6) यौवन-लीला के आधार पर नारी के चार भेद यौवना और चतुर्थयौवना।"

- गुण के आधार पर नायिका के चार भेद दिव्या, नृपपली, कुल-स्त्री और गणिका।
- राजाओं के अंतःपुर में समाश्रित नारियों के प्रकार महादेवी, देवी, स्वामिनी, स्थापिता, भोगिनी, शिल्पकारिणी, नाटकीया, नर्तिका, अनुचारिका, परिचारिका, संचारिका, प्रेषणचारिका, महत्तरी, प्रतिहारी, कुमारी, स्थविरा और आयुक्तिका।

सरस्वतीकण्ठाभरण में निम्नोक्त आधारों पर नायिका -भेदों को प्रस्तुत किया गया है:

(1) कथावस्तु के आधार पर - नायिका (कथाव्यापिनी), प्रतिनायिका, उपनायिका, अनुनायिका, नायिकाभास।

(2) गुण के आधार पर - उत्तम, मध्यम, अधम।

(3) वयः और कौशल के आधार पर - मुग्धा, मध्या, प्रगल्भा।

(4) धैर्य के आधार पर - धीरा, अधीरा।

(5) परिग्रह के आधार पर अन्यदीया के दो भेद स्लीया, अन्यदीया। ऊढा, अनूढा।

(6) उपयमन के आधार पर ज्येष्ठा, कनीयसी।

(7) मान के आधार पर उद्धता, उदात्ता, शान्ता, ललिता।

(8) वृत्ति के आधार पर - सामान्या, पुनर्भू (पत्यन्तरे प्राप्ता), खैरिणी।

(9) आजीविका के आधार पर गणिका, रूपाजीवा, विलासिनी।

(10) अवस्था के आधार पर भरत-सम्मत स्वाधीनपतिका आदि।

श्रृंगारप्रकाश' में नायिका के प्रमुख भेदों तथा अवस्थानुसार भेदों का उल्लेख हैः

(1) प्रमुख चार भेद- स्वकीया, परकीया, पुनर्भू और सामान्या।

स्वकीया और परकीया के भेदः

गुण के आधार पर उत्तमा, मध्यमा, कनिष्ठा

परिणय के आधार पर - ऊढा और अनूढा

धैर्य के आधार पर धीरा, अधीरा

वयः के आधार पर - मुग्धा, मध्यमा, प्रगल्भा
पुनर्भू के भेद अक्षता, क्षता, यातायाता, यायावरा
सामान्या के भेद - ऊढा, अनूढा, स्वयंवरा, स्वैरिणी, वेश्या
वेश्या के भेद -गणिका, विलासिनी, रूपाजीवा
इस प्रकार हम देखते हैं कि संस्कृत आचार्यों ने नायिका भेद के विभिन्न आधारों पर अपने मत स्थिर किये हैं।

6.5 नायिका भेद – सौन्दर्यशास्त्रीय दृष्टि

नायिका भेद के संदर्भ में हमने प्रस्तावित किया कि इसे सौंदर्य व कला दृष्टि के सापेक्ष भी पढ़ा जाना चाहिए। आप चाहें तो वैचारिक रूप से इसे एकाध पंक्ति में ख़ारिज कर दें, किंतु बात यह है कि यहां कलाओं के साथ, समानांतर रूप में इसका विकास हुआ है। इस ओर लोगों ने ध्यान कम दिया गया है। कलाओं के विकास के साथ ही जैसे नाटक विकसित हो रहा था। उसी प्रकार कलाओं के विकास के साथ नायिका भेद के अवांतर भेद बढ़ते गए। एक और बात ध्यान रखने की है कि यहां स्त्री भेद नहीं है, यहां नायिका भेद है। वस्तुत: स्त्री व नायिका के बीच थोड़ा पार्थक्य तो है ही। देव के एक ग्रंथ में विभिन्न प्रदेशों की स्त्रियों का वर्णन है। ये सब वर्णन भी नायिका सापेक्षी है। एक पुरुष की कला दृष्टि स्त्री को वृहत्तर परिप्रेक्ष्य देते हुए नायिका भेद में विनयस्त कर देती है। रीतिकाल की पतन व क्षय की थियरी इस कदर प्रचलित है कि हम समाजशास्त्रीय दृष्टिकोण से इसका मूल्यांकन कर ही नहीं पाते। रीतिकाल, भक्ति काल से बड़ा साहित्य भले ही न हो, किंतु भक्तिकाल का अगला पड़ाव अवश्य है। मनुष्य केंद्रित दृष्टि के विकास में रीतिकाल, भक्तिकाल का अगला पड़ाव है। एक बात और समझने की है कि जब-जब सामंतवाद अपने उत्कर्ष की ओर गया, तब -तब वीरता और पुरुषार्थ के गीत गाए गए। किंतु कलाओं के विकास के दौर में नायिका भेद केंद्रस्थ हुआ। विद्यापति, जयदेव से लेकर रीतिकाल तक जब कला और अध्यात्म का द्वंद्व भी चलता रहा, उसमें कोई निष्कर्ष निकला हो या न निकला हो, किंतु एक बात हुई ही कि सौंदर्य थोड़ा और निखर कर हमारे सामने उपस्थित हुआ।

स्वकीया-परकीया : कुछ प्रश्न

हिंदी साहित्य में स्वकीया-परकीया शब्द भरे पड़े हैं। "भक्तिकाल में स्वकीया प्रेम है और रीतिकाल में परकीया प्रेम है"। यह कथन भरा पड़ा है। भक्तिकाल और रीतिकाल को तुलनात्मक ढंग से पढ़ाने के क्रम में प्राध्यापक प्राय: सरलीकरण करते हुए इसी प्रकार के विभाजन करते रहे हैं। स्वकीया और परकीया का मूल भारतीय काव्य शास्त्र और नायिका भेद रहा है। मिथकीय ढंग से राम स्वकीया प्रेम के प्रतिरुप हैं और कृष्ण परकीया प्रेम के। इस ढंग से हम एकनिष्ठ और बहुनिष्ठ की रूढ़ छवि में स्वकीया और परकीया को भुक्त कर देते हैं।

स्वकीया और परकीया दो ध्रुवांत हैं। सामान्य जन मानस स्वकीया में रत रहा है तो सामंती जीवन में परकीया बहुप्रचलित रहा है। रामायण तक दोनों को सामाजिक मान्यता मिल चुकी थी। दशरथ, रावण

बहुविवाह करते हैं किन्तु राम एक पत्नी विवाह कर, एकनिष्ठ मानक रचकर स्वकीया को लोक में प्रतिष्ठित करते हैं। राम का प्रतिमान जनता ने स्वीकार किया, राजाओं ने नहीं। मुगलकाल तक या राज वंश तक बहुपत्नी या बहुविवाह का प्रचलन बना रहा। बहुत से आदिवासी समाज में बहु विवाह का चलन रहा है। बहुविवाह सभ्यता का आदि रूप रहा है, जो बाद के दिनों तक प्रचलित रहा।

स्वकीया अनुशासन है। अनुशासन कठिन होता है। समाज अनुशासन से चलता है। समाज में स्वकीया और परकीया दोनों की स्वीकृति रही है। यह अलग बात है कि स्वकीया और परकीया के माध्यम से नैतिक-अनैतिक सामाजिक ढांचे को नये ढंग से समझा जा सकता है।

प्रेम की प्रेरणा का प्रश्न प्रायः "परकीया प्रेम" में ही अपनी निष्पत्ति खोजता है। "स्वकीया" प्रेम की प्रेरणा प्रायः क्यों नहीं बन पाता? हिंदी में केदारनाथ अग्रवाल की पत्नी प्रेम की कविताएँ (हे मेरी तुम) प्रायः अपवाद हैं। स्वकीया और परकीया के बीच मनोवैज्ञानिक ढंग से प्रमुख अंतर यह है कि स्वकीया प्रेम का आधार मुख्य रूप से साहचर्य और कर्तव्य पथ का सहगामी स्वरुप है...तो परकीया प्रेम का मुख्य आधार स्वप्न...साहचर्य की आकांक्षा...आदर्श होते हैं। स्वकीया में 'है' का स्वीकार "है" तो परकीया में "होने" की आकांक्षा। ज़ाहिर है यथार्थ में रुमानियत कम ही होती है...रोमानियत तो आकांक्षा में ही ज़्यादा है। राजकमल चौधरी ने अपनी एक कहानी में पत्नी की शारीरिक अस्त-व्यस्तता का जो चित्र खींचा है,उसमें रोमानियत की स्थिति दूर-दूर तक नहीं है। स्वकीया,परकीया का यह रूढ़ विभाजन हिंदी साहित्य में इतना लोकप्रिय हुआ कि इस सम्बन्ध में राम और कृष्ण का विभाजन स्थिर-सा हो गया। प्रेम और प्रेरणा के केंद्र में क्या "कमनीय स्त्री" ही होती है? "बहुत से पुरुषों के लिए स्त्री का वरेण्य रूप अभी भी श्रद्धा या आदर्श नारी की छवि होती है। इड़ा या तार्किक स्त्री को बहुत से पुरुष बहुत देर तक नहीं बर्दाश्त कर पाते।" हाँ इस प्रकार के तर्क एक आंशिक सच्चाई लेकर अवश्य चलते हैं। किन्तु स्त्री का निर्बल रूप ही पुरुषों को पसंद आये या उनकी रचना भूमि बने,ऐसी अनिवार्यता नहीं।हमें मालूम है कि सीता, द्रौपदी, कैकई...जैसी स्त्रियों के बल, पराक्रम व तेज विशेष चर्चित रहे हैं। वेदकालीन स्त्रियों की ख्याति तो उनके ज्ञान के कारण ही थी। दरअसल एक पुरुष की पुरुष दृष्टि अपनी "श्रेष्ठता की अतिजीविता के दम्भ" में ही प्रायः पलती है। किन्तु एक रचनाकार की प्रेरक भूमि प्रायः वे भूमियाँ बनती हैं,जो "असामान्य" हों। रचना की प्रेरणा प्रायः असामान्य जीवन स्थितियां या "असामान्य संभाव्य जीवन स्थितियाँ" बनती हैं। यही कारण है कि बहुत-सी रचना प्रेरणा की भूमि तार्किक स्त्रियाँ भी बनती हैं। मनुष्य का स्वभाव है कि वह सामान्य से इतर वस्तुओं, तथ्यों, व्यक्तित्वों की ओर आकृष्ट होता है। स्त्री का तार्किक रूप भी एक प्रकार का वैशिष्ट्य है...जिसकी ओर प्रायः पुरुष रचनाकार आकृष्ट होते हैं।

स्वकीया में आकर्षण नहीं है। स्वकीया में प्रेम और दायित्व है। राम और सीता का प्रेम या होरी और धनिया के प्रेम में दायित्व है, रोमांच नहीं। स्वकीया हृदय का उज्जवल पक्ष है। अज का इंदुमती के लिए विलाप करना स्वकीया को करुणा से भर देता है। कालिदास ने स्वकीया प्रेम का लालित्य है। 'कुमारसंभवम' और 'मेघदूत' इस दृष्टि से उल्लेखय है। शिव-पार्वती का प्रसंग तो इस कदर चर्चित रहा

कि कालिदास अपयश के भागी ही बन गए। किन्तु स्वकीया प्रेम का उज्ज्वल रूप 'मेघदूत' में अभिव्यक्त हुआ है। यक्ष का अपनी पत्नी के लिए विरह स्वकीया प्रेम का सुन्दर निदर्शन है। स्वकीया प्रेम का एक सुन्दर रूप जायसी का नागमती वियोग वर्णन भी है। चूँकि भक्तिकाल में सूर के रास के बहाने प्रेम के परकीया रूप और रीतिकाल में स्त्री-पुरुष के मुक्त प्रेम को इतना ग्लोरीफाई किया गया कि स्वकीया प्रेम दब-सा गया। आधुनिक कवियों ने नव जागरण के बहाने से स्वकीया प्रेम को नये ढंग से उठाया है। उर्मिला, यशोधरा, यशोदा, सीता आदि के प्रेम को नये ढंग से रेखांकित किया गया। रोमांटिक परम्परा में स्वकीया प्रेम को प्राय: उपेक्षित किया गया है, जैसे छायावाद में। क्लासिक परम्परा अपने पाठ में स्वकीया प्रेम को रेखांकित करता है।

कामायनी में जयशंकर प्रसाद ने स्वकीया-परकीया के बीच संतुलन स्थापित करने का प्रयास किया है। मनु और श्रद्धा परकीया से स्वकीया की यात्रा करते हैं। वस्तुतः तात्विक दृष्टि से प्रेम परकीया ही है। प्रेम आलम्बन से आश्रय तक पहुँचता है। प्रेम का आश्रय भी तभी है जब उसके सामने आलम्बन हो। इसीलिए हमने कहा कि प्रेम मूलत: परकीया से स्वकीया तक जाता है। लेकिन एक गूढ़ बात यह है कि प्रेम न स्वकीया होता है और न परकीया। संसार की प्राय: प्रेम कहानियां स्वतंत्र होती हैं। एक स्त्री-पुरुष का प्रेम स्वकीया-परकीया से स्वतंत्र होता है। संसार की क्लासिक प्रेम कहानियां स्वतंत्र होती हैं। कारण यह कि प्रेम में जिस उदात्त, त्याग, पीड़ा, विरह, कौतूहल की अधिकता होती है, वह न तो स्वकीया प्रेम में संभव है और न परकीया प्रेम में। स्वकीया में त्याग की जगह कर्तव्य है और परकीया में औदात्य की जगह विद्रोह और अतिक्रमण, प्रतिरोध और प्राकृतिक भावों का स्वीकार है। कहने का अर्थ यह है कि प्रेम का एक तीसरा और मुख्य रूप भी है, जो स्वकीया और परकीया से अलग है।

प्रेमी -प्रेमिका का प्रेम रोमानी मन का स्वच्छन्द विचरण है। 'उसने कहा था' कहानी में लहना सिंह के प्रेम को आप किस कोटि में रखेंगे? प्राथमिक स्तर पर वह प्रेम है किन्तु सूबेदारनी के विवाह के बाद क्या वह परकीया प्रेम में शामिल होगा? जहाँ तक मेरा मानना है कि परकीया प्रेम में निकटता, साहचर्य अनिवार्य रूप से उपस्थित होता है। इस ढंग से लहना सिंह के प्रेम को परकीया प्रेम में नहीं रखा जा सकता। संसार की बेवफा कहानियों पर नया ज्ञानोदय ने कभी विशेषांक निकाला था ।इस तरह के प्रेम प्रसंग छिपे रूप में हर भाषा के साहित्य में मिलते हैं। हितोपदेश की कहानियां, सिंहासन बतीसी की कहानियां, अरेबियन नाईटस की कहानियां हों या अन्य कहानियां, सब में इस तरह के प्रसंग बिखरे पड़े हैं। बदचलन बीवियों का द्वीप जैसी रचनाएं हों या पतनशील पत्नियों के नोटस ये सभी कृतियाँ विवाहेतर सम्बन्ध या परकीया प्रेम के ही सूचक हैं ।

मनुष्य प्राकृतिक रूप से परकीया प्रेम में आसक्त रहता है। परकीया में प्राकृतिक आकर्षण है, शरीर है। कई बार परकीया को प्रेम कहने में भी आपत्ति होती है। स्वकीया में कर्तव्य बोध ज्यादा है। इसीलिए प्रेम कहानियों में सर्वाधिक लोकप्रिय प्रेम कहानियां वे बनीं जो स्वकीया -परकीया दोनों से मुक्त थीं ।

स्वकीया-परकीया शब्द पुराने हैं। यह सांमती अधिरचना का शब्द है । स्वकीया एक रूढ़, गूढ़ शब्द है। पत्नी प्रेम के लिए स्वकीया शब्द का प्रयोग रूढ़ है। बेटी के लिए प्रेम, माँ के लिए प्रेम, के लिए स्वकीया

शब्द प्रयुक्त नहीं होता। स्वकीया, पत्नी प्रेम का सूचक है। इसी प्रकार, आजकल परकीया प्रेम जैसा शब्द प्रयोग नहीं होता। समाज विज्ञान में परकीया के लिए 'विवाहेतर' शब्द का प्रयोग होता है। किन्तु साहित्य में, खासतौर से गद्य में, बेवफाई की कहानियां जैसे शब्दों का प्रयोग होता है। भारतीय साहित्य व विश्व साहित्य में विवाहेतर संबंधों पर अनेक चर्चित रचनाएं लिखी गयी हैं। इस प्रकार के प्रेम को मानवीय वृत्तियों की दृष्टि से 'यही सच है' के भाव से स्वीकार कर लिया जाता है।

6.6 नायिका भेद- आधुनिक दृष्टि

आधुनिक दृष्टि मनुष्य का जीवन इतना जटिल है कि वह अपने संबंधों को अपनी परिस्थितियों के अनुसार संयोजित कर लेता है। यूरोप में विवाहेतर संबंधों को लेकर वैसा संकोच नहीं है। अन्ना करेनिन्ना (लियो टॉलस्टॉय) उपन्यास की नायिका अन्ना करेनिन्ना के निर्णय (पति को छोड़ दूसरा विवाह) को उसकी संस्कृति के सापेक्ष देखना उचित होगा। साहित्य नैतिकता के प्रश्न को बहुत सूक्ष्म ढंग से उठाता है। परकीया प्रेम आज नैतिकता का प्रश्न नहीं रह गया है। जो प्रेम सामाजिक रूढ़ियों को तोड़कर सांस्कृतिक विस्तार करे, हम उसे काम्य मानते हैं।

उत्तर आधुनिक मन बहुकेंद्र रचता है। प्रेम के बहु केंद्र भी बने। ऐसे में उपभोक्तावाद ने प्रेम के बहुकेंद्र स्थापित किये। प्रेम के प्रति हमारी दृष्टि अब वैयक्तिक नहीं रह गयी है। प्रेम भी अब एक उत्पादन और उपभोग है। नैतिकता का प्रश्न अब बदल चुका है। जाहिर है कि प्रेम कहीं प्रेरणा का विषय है तो कहीं उपभोग का। स्वकीया -परकीया का प्रश्न आज बदल गया है तथा हमारी दृष्टि भी।

आधुनिक दृष्टि ने नायिका के सौन्दर्य दृष्टि को उसके बुद्धि, प्रभाव व सौंदर्य प्रभाव में ढाला। गुप्त की नायिकाएं, प्रियप्रवास की नायिका या कामायनी की श्रद्धा, इड़ा का स्मरण करें। श्रद्धा त्तो स्वयं काम तनया है। **नील परिधान बीच खुल रहा अधखुला अंग/ खिला हो यों जों बिजली का फूल,** जैसी पंक्तियों में भी आप पाएंगे कि सौंदर्य का प्रभाव रचित हुआ है। नायिका भेद की शास्त्रीय पद्धति यहां नाकाफी सिद्ध हुई है। आधुनिक युग मनोभेद का युग है। यहां व्यक्तित्व से ज्यादा मनोवृत्तियां प्रभावी हुई हैं। नायिका भेद या पुरुष भेद को हम व्यक्तित्व के स्थूल या क्षय रूप का एक अवशेष कह सकते हैं। लेकिन फिर वही बात कि यह कला और सौंदर्य दृष्टि की सामंती अधिरचना है।

आधुनिक कविता में खासतौर से प्रगतिशील कविता में स्त्री के सौंदर्य दृश्य कम होते चले गए। श्रम का सौंदर्य प्रारंभ के दिनों में एक नारा बना। किंतु ध्यान दें तो यह भी रूढ़ दृष्टि ही थी। "वह तोड़ती पत्थर" की प्रगतिशील मित्र कितनी भी प्रशंसा करें, किंतु यहां भी हमारी पुरुष दृष्टि ही काम कर रही होती है कि हम स्त्री के सौंदर्य से हटते हैं तो उसके श्रम पर टिकते हैं। स्त्री के 20 रूप तो उसके कर्म के अलग अलग रूपों पर लिखे गए हैं। प्रगतिशील मित्र अपनी कविताओं में काम करती स्त्रियों के अनेक रूप चित्रित करते रहते हैं। किंतु इस प्रश्न पर विचार अवश्य करना चाहिए कि स्त्री के प्रति कवियों की दृष्टि नितांत सामंती तो नहीं है?

6.7 नायिका-भेद पद्य और गद्य का द्वंद्व

प्रश्न यह भी उठता है कि क्या नायिका भेद या पुरुष भेद का संबंध कविता से है? पद्य से है? गद्य के आगमन ने शारीरिक भेद की परंपरा को कमजोर किया। हिंदी साहित्य में तो बड़े से बड़े उपन्यास के बाद भी चरित्र की आंतरिक वृत्तियों का पता उसकी शारीरिक कोटि से लगाना बहुत कठिन है। क्या शरीर की बनावट और मनोवृत्ति का गहन संबंध नहीं है? संबंध तो है, किंतु इस ओर कार्य कम हुआ। कविता की अपनी बनावट मूलत: प्रभावात्मक है। प्रभावात्मक विधान में सौंदर्य की छाया अनिवार्य से होती है। वैसे तो कविता आज भी रची जा रही है। लेकिन आज की कविता गद्य की छाया से मुक्त नहीं है। फलत: कविता में प्रभाव की अपेक्षा अनुभूति प्रभावी होती चली गई।

अभ्यास प्रश्न) 1

सही/ गलत का चुनाव कीजिये।

1. अन्ना करेनिन्ना के रचनाकार लियो टॉलस्टॉय हैं।
2. कामायनी के लेखक प्रेमचंद हैं।
3. कालिदास का मेघदूतम परकीया प्रेम की रचना है।
4. हे मेरी तुम स्वकीया प्रेम की रचना है।
5. राम स्वकीया प्रेम के उदाहरण हैं।
6. रीतिकाल में मुख्यतः परकीया प्रेम का चित्रण हुआ है।

6.8 नायिका भेद: मनोभूमि की तलाश

बड़ी विचित्र बात है कि जिस नायिका भेद से साहित्य पटा पड़ा है, उसे पुरुष इतने विभाजनों के पश्चात भी न समझ सका। और जो नायक भेद धीरोदात्त, धीरोद्धत, धीरप्रशांत, धीरललित जैसे कुछ भेदो तक सीमित है, उस पुरुष को स्त्री बहुत अच्छे से समझ लेती है। कहीं इसके पीछे यह कारण तो नहीं कि पुरुष स्त्री की समझ को शारीरिक स्तर पर खोजता रहा...और वह उसके मन तक, अंतरवृत्ति तक न पहुँच सका? नायिका भेद के अधिकांश स्त्री के बाह्य धरातल को ही स्पर्श करते हैं। विश्रब्ध , विप्रलबद्धा, प्रोषितपतिका....जैसे भेदों में भी स्त्री की काम के प्रति आसक्ति तो दिखती है, किन्तु उसके अंतकरण को छूने का प्रयास नहीं दिखता। बड़ा विचित्र तथ्य है कि नायक भेद का आधार पुरुष का अंतकरण मात्र ही रहा है, उसका शारीरिक ढांचा, रूप-गठन नहीं। आप चाहें तो इसकी व्याख्या करते हुए कह सकते हैं कि पुरुष के रूप गठन की ओर साहित्यकारों की दृष्टि कम ही गयी है...(बावजूद इसके कि रामायण, महाभारत, कादम्बरी, शिशुपाल वध, किरातार्जुनीयम् जैसे ग्रंथों में राम, भीम, कर्ण,चंद्रापीड ,बलराम,कृष्ण,अर्जुन....जैसे पुरुषों की शारीरिक सुंदरता पर पर्याप्त विस्तार दिया गया है... किन्तु इस चित्रण की मुख्य विशेषता है कि ये स्वतंत्र रूप से कथा-विस्तार का भाग नहीं बन सके हैं...) या या पुरुष का रूप/गठन आकर्षण का विषय कम रहा है या यह कि अधिकांश के लेखक पुरुष रचनाकार रहे हैं?.... हाँ आप चाहें जो भी व्याख्या करें...आप चाहें इसे स्त्री की ममत्व दृष्टि के साथ

जोड़ दें..किन्तु यह तथ्य/निष्कर्ष बहुत मजबूती के साथ खड़ा है कि नायिका भेद के मूल में स्त्री चरित्र की बहुविविधता तथा विस्तार है। पुरुष द्वारा स्त्री को विविध छोरों/ कोणों से देखने का मनोवैज्ञानिक प्रयास...जो शरीर के वृत्त पर केंद्रित रहा है। आप अज्ञातयौवना या मुग्धा का सन्दर्भ लें। एक स्त्री को अपने आगमन की सूचना नहीं है(किन्तु वह आ चुका है...)। प्रश्न है कि क्या एक पुरुष/ नायक के सन्दर्भ में यही मनःस्थिति नहीं होती? किशोरवय के प्रारंभिक चरण में शारीरिक परिवर्तन के बीच विपरीत लिंग के प्रति अनचाहा आकर्षण नहीं होता? या मुग्धा नायिका का सन्दर्भ लें। एक नायिका का अपने शारीरिक रूप/गठन को देख या उसके प्रभाव से मानसिक परिवर्तन...। यही स्थिति क्या एक पुरुष (किशोर/नायक) की नहीं होती? प्रोषितपतिका की तरह क्या प्रोषितभार्या नहीं हो सकता था? दरअसल सारा वियोग वर्णन स्त्रियों के सन्दर्भ-केंद्र में ही रचित हुआ है। सारे षट्ऋतू वर्णन, बारहमासे के केंद्र में स्त्री की व्यथा-वियोग के बहाने पुरुष का आत्मिक अहंकार और शरीर आसक्ति रही है।नखशिख वर्णन हो या उसी क्रम में नायिका भेद....। प्रश्न है कि क्या पुरुष रचनाकारों द्वारा स्त्री के वियोग वर्णन रखने के पीछे नायिका भेद के अवसर खोजना रहा है? क्योंकि यदि उसका ध्येय नायक के वियोग दृश्य रचित करने की होती तो उसमें वे श्रृंगार रस की निष्पत्ति न कर सकते थे। बड़ा विचित्र तथ्य रहा है कि हमारे क्लासिक ग्रंथों में विलाप के दृश्य पुरुष-केंद्रित रहे हैं। राम का विलाप, शिव का विलाप, नल विलाप, अज विलाप...इत्यादि। (स्त्रियों के विलाप दृश्य मुखयतः पुत्र/संतान केंद्रित रहा है। जैसे द्रौपदी , गांधारी...जैसी स्त्रियों के विलाप दृश्य संतान केंद्रित रचे गए हैं...न कि नायक केंद्रित..) । यानी नायिका के सन्दर्भ में विलाप के दृश्य पुरुष केंद्रित और वियोग केदृश्य स्त्री केंद्रित। करुण रस का आधार पुरुष और श्रृंगार रस का आधार स्त्री। करुण व् श्रृंगार के बीच उदात्त चरित्र व शारीरिक भिन्नता के अवसर की खोज कवियों के लिए मुश्किल न थी।

नायिका भेद के सन्दर्भ में रीतिकालीन साहित्य बदनाम रहा है...अपयश का भागी रहा है , गोकि वह नायिका भेद का जनक हो। जबकि वास्तविकता यह है कि वह मात्र प्रस्तोता...अनुक्रमी रहा है। हाँ नायिका भेद संबंधी कुछ स्थापनाएं रीतिकालीन आचार्यों ने की हैं, किन्तु उनमें मौलिकता कम, संयोजन ज्यादा रहा है। हाँ इस सम्बन्ध में यह तथ्य तो सर्वसम्मत रहा ही है कि रीतिकालीन कवियों ने नायिका भेद की सैद्धांतिकी के दृष्टिगत नायिका भेद के प्रचुर उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। प्रश्न यहाँ यह नहीं है कि रीतिकालीन कवि नायिकाभेद के उद्भभावक थे या नहीं या अनुप्रेरक थे या नहीं? प्रश्न है कि वह कौन सी स्थिति होती है, जब रचना-समाज को श्रृंगारिकता को स्थूल रूप (शरीर की केन्द्रीयता...मांसलता...) प्राप्त होता है? वैसे तो काम/ श्रृंगार मनुष्य का केंद्रीय भाव रहा है और यह समाज- साहित्य के केंद्र में हमेशा से रहा है। किन्तु साहित्य में शरीर की उत्सवधर्मिता के गीत किन्हीं विशेष स्थितयों में ही गाये जाते हैं...सृजित होते हैं। इस तथ्य को रेखांकित किया जा सकता है कि जिस समय नायिका भेद की सैद्धांतिकी निर्मित हो रही थी...उसी समय बौद्ध धर्म के 'महासुखवाद' का आतंक छाया हुआ था। जिस समय खजुराहो, कोणार्क के मंदिरों में काम दृश्यों को उकेरा जा रहा था, उसी अवधि में हिंदी साहित्यकार (आप चाहें तो संस्कृत या भारतीय साहित्यकार कह लें...)

नायिका भेद की सैद्धांतिकी निर्मित कर रहे थे। चूंकि काम प्रक्रिया के उद्दीपन केंद्र में स्त्री हमेशा से रही है, इसलिए नायिका भेद के बहाने...काम-उत्सव के बहाने समाज अपने जीवन के रिक्थ की खोज कर रहा था।काम उत्सव का काल 7-8 वीं शताब्दी से लेकर 13-14 वीं शताब्दी तक चलता रहा। यही काल वज्रयान के महासुखवाद का भी है और नायिका भेद की सैद्धांतिकी निर्माण का भी। साथ ही हिन्दू- बौद्ध धर्म के द्वंद्व का भी। इसी उत्सवधर्मिता की लौ की अंतिम कड़ी विद्यापति थे। यहाँ एक विचित्र तथ्य की ओर ध्यान आकर्षित हो रहा है। जिस बौद्ध धर्म में काम के शमन की केन्द्रीयता थी, उसी में महासुखवाद आया । और जिस हिन्दू धर्म में अध्यात्म...वैराग्य को मूल्य के रूप में प्रतिष्ठित किया गया था, उसी में काम के उत्सव गीत गाये जाने लगे। दो महान धर्मों के आंतरिक द्वंद्व में काम की केन्द्रीयता इस बात का संकेत है कि संघर्ष जब आंतरिक होता है तब वह जीवन-समाज के अंतर्विरोधों के आधार पर रचित होता है।और जब वह बाह्य अंतर्विरोधों की ओर जाता है, तब उसमें धर्म-राजनीति-सत्ता संघर्ष...जैसे अंतर्विरोध शामिल हो जाते हैं। हिन्दू-मुस्लिम संघर्ष की निष्पत्ति के साथ ही हिन्दू-बौद्ध धर्म की संयुक्त निष्पत्ति भक्ति आंदोलन इसीलिए बनता है, क्योंकि उसमें आतंरिक और बाह्य अंतर्विरोधों के साथ संघर्ष व्याप्त है। रामविलास जी ने इसे ही दूसरे शब्दों में व्याख्यायित किया है। खैर यहाँ हम भक्ति आंदोलन की पृष्ठभूमि में नहीं जाना चाहते, हम तो मात्र इस तथ्य के संकेत के साथ आगे बढ़ जाना चाहते हैं कि आंतरिक अंतर्द्वंद्व से जब भारतीय समाज बाह्य अंतर्द्वंद्व की ओर मुड़ा, तब शरीर की केन्द्रीयता मद्धिम पड़ गयी। रीतिकाल तक आते-आते शरीर का उत्सव कामोद्दीपन तक सिमट कर रह गया।

बड़ा विचित्र तथ्य है कि चाहे आंतरिक संघर्ष रहा हो या बाह्य संघर्ष...सभी स्थितियों में नायिका भेद की स्थिति ही रही। नायक भेद का प्रयास न के बराबर रहा। जबकि काव्य के नायक (प्रतिनिधि चरित्र...) प्रायः पुरुष ही रहे। इस ढंग से नायक भेद के लिए प्रर्याप्त स्पेस था...गुंजाइश थी, किन्तु ऐसा न हो सका।आदर्श नायोको के गुण क्लासिक ग्रंथों में पूर्व में ही निर्धारित कर दिए गए थे जिस प्रकार आदर्श स्त्री के गुण...। किन्तु जिस प्रकार नायिकाओं के विविध भेदों का प्रयास किया गया, वैसा पुरुष के भेद न किये गए। इस सम्बन्ध में महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि आदर्श नायक के गुण आभिजात्य नायकों के सन्दर्भ में ही हुआ। नायिका भेद के सन्दर्भ में सबसे महत्वपूर्ण बात यह है कि इसके मूल में आभिजात्य मानक नहीं रहे हैं। नायिका भेद का आधार सामान्य मन...जीवन की स्थितियां हैं।इस दृष्टि से यह कुलीनता...आभिजात्य से इतर सामान्य मानवीय मन की दृष्टि से भी इनका मूल्यांकन किया जा सकता है।इस प्रकरण को इस ढंग से भी देख जा सकता है।

अभ्यास प्रश्न) 2

टिप्पणी कीजिये।

1. स्वकीया

.....

.....

.....

2, परकीया

.....

.....

.....

6.9 सारांश

नायिका भेद सम्बन्धी छठी इकाई का आपने अध्ययन कर लिया है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि—

- नायिका भेद का सम्बन्ध एक विशेष सामाजिक संरचना की देन था। आज नायिका भेद पर चर्चा करना पुरानी दृष्टि का परिचायक था। आज स्त्री विमर्श केंद्र में है। स्त्री विमर्श का केंद्र बिंदु स्त्री अधिकार व स्त्रियों को मुख्यधारा में लाने की मानवीय पहल रहा है। लेकिन नायिका भेद सौंदर्य दृष्टि के साथ ही पुरुष की अपनी दृष्टि भी समेटे हुए है। नायिका भेद के माध्यम से ही हम पुराने समाज की मनोवृत्ति का पता भी पा सकते हैं।
- नायिका भेद के अनेक आधार रहे हैं। आयु के आधार पर, विवाहित होने की स्थिति के आधार पर, चरित्र के आधार पर, सामाजिक भूमिका के आधार पर...। इस प्रकार नायिका भेद के अनेक आधार प्रचलित रहे हैं।
- नायिका भेद का विषय भले ही पुराना पड़ गया हो किन्तु इस विषय से स्त्रियों की सामाजिक भूमिका पर अवश्य प्रकाश पड़ता है।

6.10 शब्दावली

- वृहत्तर – बड़े सन्दर्भ में प्रयुक्त
- सामंतवाद- भूमि व राजा/जमींदार की केन्द्रीयता की सामाजिक-आर्थिक व्यवस्था
- स्वकीया- पति प्रेम में अनुरक्त नायिका
- परकीया – पति से इतर पर पुरुष में अनुरक्त नायिका
- अधिरचना - समाज के आधारभूत ढाँचे पर आधारित सामाजिक व्यवस्था
- उत्तर-आधुनिकता – आधुनिकता का अगला चरण
- महासुखवाद – स्त्री-पुरुष के सम्भोग का तांत्रिक दर्शन

6.11 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न) 1

1. सही
2. गलत
3. गलत
4. सही
5. सही
6. सही

6.12 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिंदी साहित्य ज्ञान कोश- संपादक शम्भुनाथ
2. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- अमरनाथ

6.13 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. संस्कृत आलोचना- बलदेव उपाध्याय

6.14 निबंधात्मक प्रश्न

1. नायिका भेद की सामाजिक भूमिका पर निबंध लिखिए।

इकाई 7- काव्य हेतु

इकाई की रूपरेखा

7.1 प्रस्तावना
7.2 उद्देश्य
7.3 काव्य हेतु- अर्थ एवं भेद
7.4 प्रतिभा
7.4.1 व्युपत्ति एवं अभ्यास
7.5 काव्य हेतु : कुछ अन्य प्रश्न
7.6 सारांश
7.7 शब्दावली
7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
7.11 निबंधात्मक प्रश्न

7.1 प्रस्तावना

मनुष्य के हर कार्य के पीछे कोई न कोई कारक तत्व अवश्य होता है। काव्य हेतु प्रकरण में कविता और साहित्य के कारक शक्तियों पर विचार किया जाता है।

प्रश्न उत्पन्न होता है कि जब सब मनुष्य एक ही अनुभूति को करते हैं या हर मनुष्य एक ढंग से ही अनुभूति करते हैं, तब हर मनुष्य रचना क्यों नहीं कर पाता। तब बात समझ में आती है कि कविता करने की शक्ति या प्रतिभा कुछ विशिष्ट व्यक्तियों में ही क्यों होती है? काव्य हेतु प्रकरण तब हमारी मदद करता है।

काव्य हेतु प्रकरण हमें कविता करने के कारक तत्वों पर विस्तार पूर्वक जानने का अवसर मिलता है। इस इकाई में हम प्रमुख काव्य हेतुओं पर अध्ययन करेंगे।

7.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन शीर्षक पाठय पुस्तक की यह 7 वीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आप—

- काव्य हेतु का अर्थ समझ सकेंगे।
- काव्य हेतु पर प्रमुख आचार्यों के मतों से परिचित हो सकेंगे।
- प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास नामक काव्य हेतु का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्य हेतु पर रीतिकालीन आचार्यों के मतों से परिचित हो सकेंगे।

7.3 काव्य हेतु – अर्थ एवं भेद

काव्य हेतु का अर्थ काव्य सृजन की कारक शक्तियों से है। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य हेतु के तीन कारक बताये गए हैं - प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। भारतीय काव्यशास्त्र में काव्य हेतु को लेखक या कवि की दृष्टि से व्याख्यायित किया गया है। काव्य हेतु में प्रेरक या सामाजिक कारकों की भूमिका भी क्रियाशील होती है, इस पर भी विचार किये जाने की आवश्यकता है।

काव्य हेतु प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास इन तीन पदों की सामूहिक अभिव्यक्ति है। संस्कृत काव्यशास्त्र में हेतु को साधन के अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। अग्निपुराण में कवि या रचनाकार को प्रजापति कहा गया है -

अपारे काव्य संसारे कविरेकः प्रजापतिः।
यथास्मै रोचते विश्वं तथेदं परिवर्तते ।।

अर्थ यह कि अपनी रूचि के अनुसार कवि ही इस संसार की रचना करता है। लेकिन प्रश्न यह है कि कवि में रचना करने की योग्यता कहाँ से आती है? इस प्रश्न का उत्तर काव्य हेतु प्रकरण द्वारा तलाश की गयी है।

7.4 प्रतिभा

काव्य हेतु में प्रतिभा को मुख्य हेतु स्वीकार किया गया है। प्रश्न है कि प्रतिभा क्या है। प्रतिभा मात्र टेलेंट या कौशल नहीं है। करतब दिखाना या बाजीगरी दिखाना कौशल का भाग हो सकता है, प्रतिभा का नहीं। जाहिर है प्रतिभा कोई विशिष्ट आंतरिक शक्ति है। जब हम प्रतिभा को विशिष्ट आंतरिक शक्ति कह रहे हैं तो उसका अर्थ यही हो सकता है कि यह नैसर्गिक ढंग से आती है। अर्थ यह कि प्रतिभा अर्जित नहीं की जा सकती। चूँकि प्रतिभा नैसर्गिक होती है, इसलिए इसमें नये को उत्पन्न करने की क्षमता होती है। भट्टतौत ने प्रतिभा को व्याख्यायित करते हुए नव -**नवोनमेषशालिनी प्रज्ञा** कहा है। जिसमें नया उत्पन्न करने की क्षमता नहीं, वह प्रतिभा नहीं। अभिनवगुप्त ने प्रतिभा की व्याख्या करते हुए उसे "**अपूर्ववस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा"** कहा है। जो प्रत्यक्ष है, स्थूल है, उसमें अपूर्ववस्तु उत्पन्न करने की क्षमता नहीं होती। यह काम प्रतिभा ही करती है। एक प्रतिभाशाली व्यक्ति में बौद्धिकता, रचनात्मकता व मौलिकता का अद्धभुत योग होता है। आज आधुनिक काल में आइक्यू लेवल की बात होती है। लेकिन आइक्यू लेवल में मौलिकता भी हो, यह आवश्यक नहीं। प्रतिभा में मौलिक चीजें उत्पन्न करने की क्षमता होती है।

रुद्रट, राजशेखर, मम्मट आदि आचार्यों ने प्रतिभा के लिए शक्ति शब्द का प्रयोग किया है। आचार्य भामह ने काव्य हेतु में एकमात्र प्रतिभा को ही माना है। आचार्य भामह ने लिखा है कि गुरु के उपदेश से तो जड़ बुद्धि भी शास्त्र का अध्ययन कर सकता है, किन्तु काव्य की रचना तो कोई प्रतिभाशाली व्यक्ति ही कर सकता है। राजशेखर ने समाधि एवं अभ्यास से उत्पन्न शक्ति को ही एकमात्र काव्य का हेतु स्वीकार किया है। यही मत श्यामदेव का भी है। दंडी ने भी शास्त्र ज्ञान और अभ्यास के साथ प्रतिभा के महत्व को स्वीकार किया है। आचार्य वामन ने प्रतिभा को जन्म-जन्मांतर का संस्कार कहा है।

वाग्भट्ट ने प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास के संबंध को और स्पष्ट करते हुए कहा है, 'प्रतिभा इसका (काव्य का) कारण है, व्युत्पत्ति विभूषण है और अभ्यास उसके सर्जन को बढ़ाने वाला है।' - (वाग्भटालंकार)। हेमचंद्र ने इस पर पुनः प्रकाश डाला है, 'प्रतिभा इस (काव्य) का हेतु है। व्युत्पत्ति और अभ्यास प्रतिभा का संरकार करने वाले हैं।' (काव्यानुशासन) ।

अभिनवगुप्त ने प्रतिभा के दो भेद माने हैं- आरुया और उपारुया। कवि की प्रतिभा आरुया तथा सहृदय की प्रतिभा उपारुया है। रूद्रट ने भी प्रतिभा को दो रूपों में विभाजित किया है-सहजा और उत्पाद्य। राजशेखर ने भी प्रतिभा के दो भेद किये हैं। कवि की प्रतिभा को वे कारयित्री प्रतिभा कहते हैं तथा भावक या आलोचक की प्रतिभा को भावयित्री प्रतिभा।

7.4.1 व्युत्पत्ति और अभ्यास

व्युत्पत्ति को प्रतिभा का संस्कार कहा गया है। यह ठीक है कि काव्य सृजन की क्षमता प्रतिभा से आती है, किन्तु व्युत्पत्ति के बिना प्रतिभा लोक से कट कर सूख भी सकती है। साहित्य का सम्बन्ध भाव से है तथा भाव का सम्बन्ध समाज से है।

बिना सामाजिक ज्ञान के कोई भी साहित्य नहीं लिखा जा सकता। अर्थ यह कि कविता का आधार भले ही प्रतिभा हो, किन्तु उसे व्यापक फलक तो व्युत्पत्ति ही प्रदान करती है।

'व्युत्पत्ति' का एक अर्थ है पाडित्य या निपुणता। विद्वत्ता या बहुज्ञता कवि के लिए अत्यावश्यक है। ज्ञान और अध्ययन से केवल विचार प्रमाणिक बनते हैं और सही दिशा हासिल होती हैं। अध्ययन और प्रतिभा के बल पर ही कवि पाठक को नई चेतना देने में समर्थ हो सकता है। नई चेतना वही कवि दे सकता है, जिसे उचित-अनुचित का विवेक हो। उचित-अनुचित का विवेक ही, राजशेखर के मतानुसार, 'व्युत्पत्ति' है। मम्मट ने व्युत्पत्ति के लिए 'निपुणता' शब्द का प्रयोग किया। यह निपुणाला चराचर विश्व के निरीक्षण और काव्य इत्यादि के ध्ययन से प्राप्त होती है। आचार्य मंगल ने प्रतिमा कोर व्युत्पत्ति दोनों को समान रूप से श्रेष्ठ माना है। काव्यशास्त्र के अधिकांश आचायों ने व्युत्पत्ति को प्रतिभा का संस्कारकर्ता माना है। मम्मट ने बहुज्ञता हासिल करने हेतु तीन बातों पर विशेष बल दिया है: 1. लोक जीवन का निरीक्षण तथा उससे संचित अनुभव। 2. विभिन्न मूल्यवान शास्त्रों का अध्ययन मनन। 3. पूर्व सृजित काव्यों का अध्ययन एवं इतिहास आदि का सम्यक ज्ञान।

व्युत्पत्ति काव्य रचना के लिए महत्वपूर्ण है। संस्कृत काव्यशास्त्र में व्युत्पत्ति को उतना महत्व भले न मिला हो, किन्तु आधुनिक काल में बिना व्युत्पत्ति के कोई भी रचना नहीं लिखी जा सकती। जैसे - जैसे साहित्य जन धर्मी या जनचरित्रि होती जाएगी, वैसे -वैसे लोक ज्ञान या व्युत्पत्ति का महत्व साहित्य में बढ़ता जायेगा।

आचार्य मंगल कविता के लिए अभ्यास की सत्ता को केंद्रीय रूप में स्वीकार करते हैं। कहा भी गया है - **"करत-करत अभ्यास ते जड़मति होत सुजान। / रसरी आवत जात त, सिल पर पड़त निसान"** ।। अर्थ यह कि अभ्यास से मूर्ख व्यक्ति भी बुद्धिमान हो जाते हैं, जैसे रस्सी के बार- बार रगड़ से पत्थर पर भी निशान पड़ जाता है। शास्त्र में भी कहा गया है - बिना अभ्यासे विष: विद्या: । अभ्यास प्रतिभा को मार्जित करती है।

अभ्यास प्रश्न) 2

सही/ गलत का चुनाव कीजिये।

1. काव्य हेतु का अर्थ काव्य के कारक तत्वों से है।
2. प्रतिभा को शक्ति भी कहा गया है।
3. प्रतिभा को अभिनवगुप्त ने अपूर्व वस्तु निर्माण क्षमा प्रज्ञा कहा है।
4. अभ्यास को आचार्य मंगल ने मुख्य काव्य हेतु माना है।
5. व्युत्पत्ति का अर्थ सामाजिक ज्ञान से है।

7.5 काव्य हेतु

कुछ अन्य प्रश्नकाव्य हेतु प्रकरण के सन्दर्भ में आपने प्रतिभा, व्युत्पत्ति एवं अभ्यास नामक तत्वों का अध्ययन किया। कभी आपके मन में प्रश्न आ सकता है कि क्या इन तीन कारक तत्वों के अतिरिक्त और कोई भी तत्व नहीं होते? क्या कविता रचाव के पीछे अन्य कारक तत्व भी हो सकते हैं? यहाँ हम इसी प्रश्न का उत्तर तलाशने का प्रयास करेंगे। कविता या काव्य रचाव के तीन तत्व प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास कवि या रचनाकार के स्तर पर घटित होते हैं। क्या सामाजिक स्तर पर भी काव्य हेतु को खोजा जा सकता है? या खोजा जाना चाहिए? इस प्रश्न पर विचार आवश्यक है। काव्य हेतु का सामाजिक आधार कवि प्रतिभा या कवि व्यक्तित्व से इतर की खोज करता है। काव्य रचना नितांत वैयक्तिक क्रिया नहीं है। काव्य रचना सामाजिक क्रिया है। सामाजिक भूमि पर प्रतिष्ठित होकर ही कोई कवि रचना कर सकता है। बिना इस भूमिका पर पहुंचे बिना कितना भी प्रतिभाशाली कवि हो, वह रचना नहीं कर पाता। कविता वस्तुतः सामाजिक आकांक्षा का परिणाम होती है। इसीलिए काव्य हेतु के प्रसंग में समाज का दबाव कम महत्वपूर्ण कारक तत्व नहीं है। राष्ट्रीय आंदोलन के दौर में राष्ट्रीय भाव बोध व नवजागरण की रचनाएं बहुतायत लिखी गयीं। इसी प्रकार हर युग व हर दौर में सामाजिक भूमिका रचना के लिखे जाने का आधार बनता रहा है। काव्य हेतु का दूसरा सामाजिक आधार युग की आकांक्षा और कवि प्रतिभा का संयोग भी है। बड़ी रचनाएं युग सापेक्ष होती हैं। आज माध्यकालीन मनोवृत्ति की रचनाएं लिखने का कोई औचित्य नहीं है, फिर कवि प्रतिभा चाहे कितनी उत्कट हो। काव्य हेतु का एक अन्य कारक सामाजिक आंदोलन भी तय करता है। सामाजिक आंदोलन एक उच्च साहित्य की मांग उत्पन्न करता है। जो कवि प्रतिभा इस दबाव को महसूस कर लेता है, वह सार्थक रच पाता है। इस प्रकार काव्य हेतु के सन्दर्भ में हम दो आधार निरुपित कर सकते हैं। एक, काव्य रचना का वैयक्तिक धरातल। और दूसरे, काव्य रचना का सामाजिक धरातल।

अभ्यास प्रश्न 2

टिप्पणी कीजिये।

1. प्रतिभा

.....

.....

.....

2. व्युत्पत्ति

.....

.....

.....

3. अभ्यास

.....

.....

.....

7.6 सारांश

काव्य हेतु नामक इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आपने जाना कि—

- काव्य हेतु कविता रचाव की कारक शक्तियों का विवेचक सिद्धांत है।
- काव्य हेतु में तीन मुख्य हेतु होते हैं - प्रतिभा, व्युत्पत्ति और अभ्यास। उनमें प्रतिभा मुख्य है।
- प्रतिभा के कारण ही कोई कवि दूसरे मनुष्यों से विशिष्ट होता है। प्रतिभा के कारण ही कवि सामाजिक यथार्थ को कल्पनात्मक ढंग से प्रस्तुत कर पाता है।
- व्युत्पत्ति काव्य हेतु का दूसरा घटक है। व्युत्पत्ति को हम लोक व्यवहार के ज्ञान के अर्थ में समझ सकते हैं।व्युत्पत्ति के माध्यम से ही कवि अपनी रचना को व्यापक धरातल या आधार प्रदान कर पाता है।
- अभ्यास तीसरा काव्य हेतु है। अभ्यास के माध्यम से कवि अपनी प्रतिभा को निखारता है। काव्य एक कला भी है। ऐसे में अभ्यास कविता लेखन के लिए अनिवार्य हेतु के रूप में हमारे सामने आता है।

7.7 शब्दावली

- प्रतिभा- काव्य सृजन की शक्ति
- व्युत्पत्ति- लोक/समाज के अनुशीलन से प्राप्त ज्ञान
- प्रजापति- सृष्टि का निर्माणकर्त्ता
- नवोन्मेषशालिनी – नवीन वस्तुओं/ विचारों को उत्पन्न करने वाली शक्ति
- कारयित्री प्रतिभा – कविता सृजन की प्रतिभा
- भावयित्री प्रतिभा- काव्य आस्वादन की प्रतिभा

7.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न) 1

1. सही

2. सही
3. सही
4. सही
5. सही

7.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत आलोचना – बलदेव उपाध्याय
2. हिंदी आलोचना के पारिभाषिक शब्द – अमरनाथ

7.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. हिंदी आलोचना के बीज शब्द- बच्चन सिंह
2. हिंदी साहित्य ज्ञान कोश – संपादक शम्भुनाथ

7.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. काव्य हेतु पर निबंध लिखें।

इकाई 8 काव्य प्रयोजन

इकाई की रुपरेखा

8.1 प्रस्तावना
8.2 उद्देश्य
8.3 काव्य प्रयोजन- अर्थ एवं इतिहास
8.4 मम्मट का काव्य प्रयोजन
8.5 रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयोजन
8.6 आधुनिक साहित्य का काव्य प्रयोजन
8.7 सारांश
8.8 शब्दावली
8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
8.12 निबंधात्मक प्रश्न

8.1 प्रस्तावना

एक लेखक लिखता क्यों है? यह प्रश्न हमेशा उठता रहा है। स्वयं इस प्रश्न से एक सचेत लेखक भी जूझता है कि आखिर वह लिखता क्यों है? गोस्वामी तुलसीदास ने काव्य प्रयोजन का उत्तर तलाशते हुए 'स्वान्त: सुखाय' शब्द का प्रयोग किया है। हर लेखक व कवि इस प्रश्न को अलग-अलग कोण से पकड़ता है। संस्कृत काव्यशास्त्र में इस प्रकरण को 'काव्य प्रयोजन' कहा गया है। काव्य प्रयोजन का सीधा और सरल अर्थ कविता लिखने के कारण व उद्देश्य के अर्थ में लिया जा सकता है।

8.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन शीर्षक पाठ्य पुस्तक की यह सातवीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप-

- काव्य प्रयोजन का अर्थ समझ सकेंगे।
- काव्य प्रयोजन पर विभिन्न आचार्यों के मतों को जान सकेंगे।
- काव्य प्रयोजन पर मम्मट के मतों को जान सकेंगे।
- काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में यश की भूमिका समझ सकेंगे।
- काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में रीतिकालीन आचार्यों के मतों को जान सकेंगे।

8.3 काव्य प्रयोजन: अर्थ एवं इतिहास

संस्कृत में किसी भी विषय के अध्ययन के चार भागों में एक भाग प्रयोजन को भी बताया गया है। प्रयोजन, आधिकारिता, संबंध और विषयवस्तु...इस चतुष्टय में प्रयोजन सबसे अधिक महत्वपूर्ण है, क्योंकि प्रयोजन के बिना कोई चीज स्वीकार नहीं की जाती, 'यावत प्रयोजन नोक्तं तावत् तत्केन गृह्यते।' 'अग्निपुराण' के अनुसार, काव्य के प्रयोजन में पुरुषार्थ चतुष्टय के मोक्ष को छोड़कर अन्य तीन, धर्म, अर्थ तथा काम पुरुषार्थ शामिल होते हैं।

संस्कृत काव्यशास्त्र में सर्वप्रथम काव्य प्रयोजन की चर्चा आचार्य भरत करते हैं। आचार्य भरत मुनि ने लिखा है कि नाट्य का उद्देश्य मात्र मनोरंजन करना ही नहीं है, अपितु धर्म, यश, आयु, कल्याण, बुद्धिवर्द्धन तथा लोकोपदेश भी है। ('धर्म्य यशस्यमायुष्यं हितं बुद्धि वर्धनम्। लोकोपदेशजननं नाट्यमेतत भविष्यति।' (नाट्यशास्त्र)। भरत के नाट्य प्रयोजन ही कालांतर काव्य प्रयोजन के रूप में मान्य हुए। इस कारण आचार्य भरत को काव्य प्रयोजन पर सर्वप्रथम विचार करने वाले आचार्य के रूप में स्मरण किया जा सकता है। आचार्य वामन ने आनंद तथा कीर्ति (यश) को काव्य प्रयोजन स्वीकार किया है। आनंद के लिए वामन ने प्रीति शब्द का प्रयोग किया है। अर्थात आनंद तथा कीर्ति काव्य के दो प्रयोजन हैं। उन्होंने आनंदानुभूति को काव्य का दृष्ट प्रयोजन तथा कीर्ति को अदृष्टप्रयोजन माना,

'काव्यं सदृष्टादृष्टार्थ प्रीति-कीर्ति-हेतुत्वात्।' (काव्यालंकार सूत्रवृत्ति, 1.1.5)। रुद्रट ने यश, धनप्राप्ति, विपत्तिनाश, अलौकिक आनंद, आप्त कामना तथा धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति को काव्य प्रयोजन माना और इनमें यश को प्रमुख स्थान दिया। इस प्रकार रुद्रट ने काव्य प्रयोजन को विस्तृत अर्थ देने का प्रयास किया है। आगे चलकर मम्मट ने इसे और व्यवस्थित किया।

आनंदवर्द्धन ने हृदय के आहलाद को मुख्य प्रयोजन माना। जबकि अभिनवगुप्त ने आनंद को मुख्य काव्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार करते हैं। अभिनव रसवादी आचार्य हैं। स्वाभाविक था कि उनके लिए आनंद या प्रीति मुख्य काव्य प्रयोजन होता। कुंतक और विश्वनाथ ने पुरुषार्थ चटुष्टय यानी धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष की प्राप्ति को काव्य प्रयोजन स्वीकार किया है। पंडितराज जगन्नाथ ने यश, लोकोत्तर आनंद, गुरु, राजा और देवताओं की प्रसन्नता आदि को काव्य का प्रयोजन स्वीकार किया है।

8.4 मम्मट का काव्य प्रयोजन

काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में आचार्य मम्मट का सूत्र लोकप्रिय रहा है। मम्मट का सूत्र है -

काव्यं यशसेऽर्थकृते व्यवहारविदे शिवेतरक्षतये ।

सद्यः परनिवृतये कांतासम्मिततयोपदेशयुजे ।।

मम्मट अपनी परिभाषा में काव्य प्रयोजन के छः तत्व स्वीकार करते हैं। काव्य द्वारा यश की प्राप्ति होती है, अर्थ की प्राप्ति होती है, व्यवहार का ज्ञान होता है, अशिव विचारों का नाश होता है, शीघ्रता से प्रवृत्त करता है या मनोवृत्तियों का तीव्र उद्रेक होता है... और स्त्री के सामान मधुर उपदेश मिलता है।मम्मट के काव्य प्रयोजन को दो भागों में अर्थात मुख्य तथा गौण में विभक्त किया गया है। मुख्य प्रयोजन में सद्य: परिनिवृत्तये है अर्थात तुरंत मिलने वाला आनंद है तथा यश, अर्थ, व्यवहार आदि को गौण प्रयोजन माना गया है। किन्तु आज हम इस तथ्य को उसी रूप में नहीं स्वीकार कर पाएंगे। व्यवहार का ध्यान और अशिव विचारों का नाश ये किसी भी कवि या पाठक के लिए कम महत्वपूर्ण नहीं हैं। मम्मट के बाद के आचार्यों ने कवि के लिए यश प्राप्ति को एक मुख्य प्रयोजन के रूप में स्वीकार किया है। यहाँ हम यश पर थोड़े विस्तार से विचार करेंगे।

साहित्य और यश-प्राप्ति : कुछ अन्य प्रश्न

यश प्राप्ति काव्य- प्रयोजन का केंद्र-बिंदु स्वीकार किया गया। मम्मट के प्रसिद्ध सूत्र में यश प्राप्ति को साहित्य का प्राथमिक तत्व स्वीकार किया गया। मम्मट के पूर्व तथा पश्चात के आचार्यों का बड़ा वर्ग यश को ही काव्य रचना का मुख्य प्रयोजन स्वीकार करता रहा है। काव्य-प्रयोजन में कवि द्वारा धन-प्राप्ति के लिए रचना करना स्वीकार किया गया है, किंतु यह कभी का साहित्य का मूल प्रयोजन नहीं रह है। केवल धन के लिए साहित्य सर्जना करना , कभी भी श्रेष्ठ साहित्य के अंतर्गत स्वीकार नहीं किया गया है। हालांकि सामंती युग में राजदरबारी कवि हमेशा से रहे हैं, किंतु उनकी कविता जनता से दूर की कविता रही है। प्रश्न है कि कालिदास, विद्यापति, चंद...जैसे कवि भी तो दरबारों में रहे हैं, तो उन्हें क्यों न धन के लिए रचना करने वाले कवि के रूप में देखा जाए? दरअसल प्रश्न यह है कि कविता

रचना करके धन की प्राप्ति करना एक चीज है और धन प्राप्त करने के लिए कविता करना दूसरी चीज़। कालिदास या इस जैसे कवियों को राजा/ राजकीय संरक्षण अवश्य प्राप्त हुआ, किंतु उनकी कविता का सत्य, संबंध राजदरबारी स्तुति से भिन्न था। विद्यापति जब कीर्तिपताका या कीर्तिलता लिखते हैं तो राजदरबार के प्रभाव में उनकी कविता कई बार कमजोर हुई है। लेकिन पदावली में विद्यापति की लोकधर्मिता ने उनके कभी रूप की रक्षा की है। यहां स्पष्ट रूप से समझ लें कि राजदरबार में होना और दरबारी होने में तात्विक भेद है। राजदरबार में होना एक वर्गीय, सामाजिक स्थिति है और दरबारी होना एक चयनित स्थिति है। एक का लक्ष्य अपनी कविता के लिए बड़े केंद्र, माध्यम की खोज है तथा दूसरे का लक्ष्य कविता करके धन कमाना। वस्तुत इन्हीं दृष्टियों की भिन्नता के कारण कालिदास , बाण जैसे कवि देव, मतिराम से भिन्न हो जाते हैं। कहने का अर्थ यह है कि काव्य -रचना द्वारा धन की प्राप्ति द्वितीयक है। कहीं-कहीं तो हीन भी। अब प्रश्न यह है कि कवि अपनी रचना के माध्यम से यश प्राप्ति की खोज किस रूप में करता है? क्या यह मात्र आत्मनिष्ठ चाहत- इच्छा का विषय है? क्या कविता का लक्ष्य मात्र यश प्राप्ति है? और यदि ऐसा हुआ तो फिर साहित्य की जनपक्षधरता का प्रश्न संदिग्ध हो जाएगा या गौण हो जाएगा। मनुष्य मात्र की परिकल्पना होती है कि वह अपनी अनुभूति का प्रसरण करें। इसके पीछे एक कारण तो यह होता है कि उसकी अनुभूति का विस्तार समाज में हो, किंतु उससे आगे या उससे महत्वपूर्ण तथ्य यह है कि कवि समाज के लिए एक नवीन तथ्य, सत्य का पुनराविष्कार करता है। यह नई अनुभूति, सत्य को अभिव्यक्त करना, कवि की वैयक्तिक नहीं, सामाजिक मजबूरी है। यानी कवि बिना लिखे, अपने प्राप्त सत्य को अभिव्यक्त किए बिना नहीं रह सकता। कवि की अनुभूति वैयक्तिक प्राप्ति का प्रश्न भी नहीं है। वह सामाजिक प्राप्ति का प्रश्न है। ऐसी स्थिति में यश प्राप्ति तक सीमित कर कवि अनुभूति को व्यक्तिगत धरातल तक सीमित करना कहां तक उचित है? एक सचेत कलाकार/ लेखक मात्र समाज का प्रतिनिधि नहीं होता। इलियट श्रेष्ठ कविता के लिए निर्वैयक्तिकता की बात करता है तो इसका तात्पर्य यही होता है कि एक कवि, कलाकार का व्यक्तित्व ही वह निष्कलुष पात्र है, जहां वह शेष रह जाता है। अन्यथा उसका अपना क्या होता है। जैसे एक दृष्टांत के माध्यम से इसे समझने का प्रयास करें तो इसे इस रूप में समझ सकते हैं कि जल को हम जिस पात्र में डालते हैं, वह उसी रूप में ढल जाता है। यानी यहां पात्र की भूमिका मात्र उसके स्वरूप तक सीमित हो जाती है या कहें कि कथ्य को विभिन्न शैलियों में ढालने वाले लेखकीय व्यक्तित्व तक सीमित हो जाती है। लेकिन क्या कभी व्यक्तित्व को पात्र की भूमिका तक सीमित किया जा सकता है? क्या कवि किसी पात्र की तरह ही तटस्थ होता है? क्या वह कथ्य को अपनी तरफ से मोड़ नहीं प्रदान करता? या वह रूप नहीं प्रदान करता? निश्चित रूप से यदि हम कवि अनुभूति की बात करते हैं तो हम यांत्रिक वस्तुनिष्ठता की बात नहीं कर रहे होते हैं..समाज की प्राप्ति अनुभूति और कवि की प्राप्ति अनुभूति का संवेदना का निश्चित योग ही रचना होती है। श्रेष्ठ कविता में समाज की अनुभूति के क्रम में कवि की अनुभूति का विकास-क्रम स्थिर किया जाता है। यही कवि की जनपक्षधरता प्रकट होती है। यानी कविता का लक्ष्य बदल जाता है। यश प्राप्ति कवि का लक्ष्य नहीं रह जाता...अब कभी का लक्ष्य

हो जाता है, समाज की अनुभूति का अपनी साम्वेदनिक साहचार्यता के क्रम में स्थिर करके...उसका प्राकट्य करना। इसी प्रक्रिया में साहित्य का जन्म होता है। यहां कवि यश और जनता के लिए लिखे जाने वाले साहित्य की व्यंजना को थोड़े और गहरे रूप में समझने की आवश्यकता है। हर युग का श्रेष्ठ साहित्य जनता के लिए ही लिखा जाता है। प्रश्न यह है कि हमारे समाज में कवि- कर्म के साथ उसका व्यक्तित्व इस प्रकार जुड़ गया है कि कई बार उसे अलगाना भी कठिन हो जाता है। कर्ता- कर्म-क्रिया का त्रित्व रचना-जगत में...कवि- रचना उद्देश्य-रचना के रूप में स्थापित हो जाती है। यानी कवि तो कर्म युक्त क्रिया (सार्थक उद्देश्य के साथ रचना) करना करता है, किंतु उसके साथ उसका व्यक्तित्व/नाम-यश संयुक्त हो ही जाता है। कवि- यश के संदर्भ में एक प्रश्न यह है कि फिर क्या कारण है कि बहुत से लेखक अज्ञात रहते हैं? क्या अज्ञात लेखक के भीतर यश कामना नहीं होती? या उनका रचना कर्म, उनके व्यक्तित्व/ नाम से पृथक हो जाता है? जीवन-समाज की गति के बीच अपने दाय की प्राप्ति से उदासीन लेखक की अज्ञात होते हैं। वे सामूहिक गति में तो अपना योग देते हैं, किंतु स्वयं उस दाय का संग्रह- सहभागिता नहीं करते। इस प्रकार ऐसे लेखकों का कर्म उसके अपने व्यक्तित्व से विलयन पर निर्भर करता है। बहुत से ऋषि, चिंतक, लोक रचनाकारों की युक्तियां आज उनके रचना कर्म की साक्षी हैं। इसलिए जरूरी यह भी होता है कि हम अपने रचना -कर्म को अपने व्यक्तित्व से संयुक्त करते चलें। कारण यह कि कोई भी रचना हो, उसका देश-काल संदर्भ भी आवश्यक ही है। यदि हम व्यापक रूप में लेखक के व्यक्तित्व को देश-काल संदर्भ के रूप में समझें तो क्या आपत्ति? आखिर लेखकीय व्यक्तित्व अपने समय का प्रतिनिधि या निचोड़ और (कथ्य का आत्मिक निचोड़) ही तो है।

प्रश्न है कि यश का संबंध क्या कवि रचनाकार के काव्य -संप्रेषण की प्रक्रिया से जुड़ा हुआ है? यानी कई बार कोई रचनाकार अपने समय में अबूझ बना रहता है या उसकी रचना आगे आने वाले समय में ही संप्रेषणीय हो पाती है। प्रश्न है ऐसा क्यों होता है? क्या ऐसे रचनाकारों के कथ्य अपने समय से आगे होते हैं? या वे अपने समय की प्रवाहमान साहित्यिक पद्धति से भिन्न जा पड़ते हैं? भवभूति जैसा कवि-नाटककार यदि अपने समाज में उपेक्षित महसूस करता है तो इस प्रश्न पर गंभीरता पूर्वक विचार करने की आवश्यकता है। भवभूति उस समानधर्मी सहृदय की आकांक्षा व्यक्त कर रहे हैं जो उनकी कविता के मर्म को समझ सके। यानी कवि का कथ्य या यश कई बार अपने युग का अतिक्रमण कर जाता है। हिंदी में निराला का यश उनकी काव्य रचना के उत्तरार्ध में फैला या राजकमल चौधरी, भुवनेश्वर, मंटो जैसे लेखक बाद में...क्रमशः यशप्रार्थी होते चले गए। होता यह है कि किसी रचनाकार के कथ्य जल्दी संप्रेषित हो जाते हैं और किसी के बाद के समय में होते हैं। यश- प्राप्ति का एक संबंध कविता के संप्रेषण से जुड़ा हुआ है। हां किंतु यश प्राप्ति का मूल प्रश्न कविता में अंतर्निहित जीवन मूल्य या जीवनबोध ही होते हैं। जो कवि को स्थाई रूप से यश के भागी बनाते हैं। संप्रेषण का प्रश्न तो अस्थाई काल का प्रश्न है, किंतु जीवन बोध का प्रश्न स्थाई काल में प्रसारित होते होने वाला है। आधुनिककालीन चेतना और परिष्कृत बोध के कारण रीतिकालीन कवियों का यश वहीं रह गया, जो 19वीं-20वीं शताब्दी के प्रारंभिक दशकों तक था। उस समय देव बड़े या बिहारी, यही साहित्य की केंद्रीय चिंता हो सकती थी;

किंतु यह आज का महत्वपूर्ण प्रश्न नहीं रह गया है। वस्तुतः रचनाकार के संबंध में यश प्राप्ति का प्रश्न वर्तमान और भविष्य के अंतर्संबंध के फलसफे पर निर्भर करता है। आज का यशस्वी कभी भविष्य में यशहीन हो सकता है। वर्तमान का बड़ा लेखक यानी जो आज के समय के यथार्थ का प्रवक्ता हो, व्यंग्य लेखक हो, समय के दबाव में लिख रहा हो; भविष्य की काव्य -गति में अनफिट हो सकता है। इसीलिए हमारे यहां वास्तविक कवि/ रचनाकार उसे ही कहा गया जो काल की सीमाओं का अतिक्रमण कर चुका हो। यानी कम- से -कम 500 वर्षों की कीर्ति को धारण कर चुका हो। हालांकि अंतिम निष्कर्ष के रूप में इस मत को नहीं मान माना जा सकता, क्योंकि कई कवि इस सीमा में भी नहीं फिट बैठते ; बावजूद ऐसा रचनाकार ही...कवि ही यश का भागी हो सकता है। ऐसा प्रश्न इसलिए भी उठता है कि कई बार रचनाकार तात्कालिक आग्रह से युक्त हो रचना करने लगते हैं और वह काल की भविष्य-गति में स्थाई नहीं हो पाते। जैसे सिद्ध-नाथ कवियों में से अधिकांश तात्कालिक शक्तियों से प्रभावित थे। वहीं गोरख-कबीर ने तत्कालीन संवेग को अपने अनुभूत -सत्य के लिए मात्र ऊर्जा रूप में ग्रहण किया। इसलिए भी वे भविष्य के रचनाकार हुए...स्थाई यश के भागी हुए।

रचना और यश के संदर्भ में एक प्रश्न और महत्वपूर्ण है कि क्या अपने समय में ख्याति प्राप्त रचनाकारों और अपने समय में उपेक्षित रचनाकारों की काव्य-प्रक्रिया में कोई अंतर खोजा जा सकता है? क्या अपने समय में ख्याति प्राप्त लेखक उपलब्ध प्रचलित विषय की गहराई तक जाता है, क्योंकि उसकी प्राथमिक समस्या अपरिचय की नहीं होती, इसलिए भी वह मात्र विषयों, उपलब्ध विषयों को चुनकर उस पर सघनता पूर्वक विचार करता है; किंतु अपने समय में अख्याति प्राप्त लेखक प्राय: अप्रचलित विषय की ओर जाता है। वह प्रायः दुख, विसंगति, करुणा, विडंबना, अंतर्विरोध, त्रासदी...जैसे विषयों की ओर जाता है। तो क्या वह अपने दुख के साथ समाज के दुखों का साधारणीकरण कुछ ज्यादा ही तीव्रता के साथ करता है? कालिदास की समस्या असंगति से ज्यादा 'असंगत में सौंदर्य बोध' जागृत कर देने की है, किंतु भवभूति की समस्या 'असंगत के बीच करुणा' जैसे अप्रचलित दृश्यों -भाव को केंद्रीय रूप में स्थापित कर देने की है। अज्ञेय की मूल समस्या व्यक्तित्व- सृजन और संप्रेषण की है, किंतु मुक्तिबोध की मूल समस्या व्यक्तित्व को निर्मित करने वाली यह नकारात्मक स्थितियां हैं जिस में फंसकर सृजन होता है। मुक्तिबोध की समस्या इसीलिए संप्रेषण से ज्यादा व्यक्तित्वान्तरण की है। यानी ख्यातिलब्ध साहित्यकार की लेखनी उपलब्ध विचार, भाव के प्रसार की, उसकी वास्तविक उपलब्धता-गहराई, संप्रेषण एवं कलात्मकता की होती है तो दूसरे प्रकार के रचनाकार (उपेक्षित) की समस्या नई जीवन स्थिति की कल्पना, नए भाव- नए संबंध एवं नए विचार के बीच आंतरिक संयोजन स्थापित कर देने की होती है...और क्योंकि इस प्रकार की कथ्यगत भिन्नता होती है। अतः उनकी रचना- शैली में भी अंतर आ जाता है। उपेक्षित रचनाकार की रचना-शैली उलझी हुई, जटिल रूप में होती है; क्योंकि वह अपने कथ्य-अनुभूति को नए रूप में ही कह पाता है। इसलिए भी वह उलझाव का शिकार हो जाता है। मुक्तिबोध, राजकमल चौधरी की कविताओं का शिल्प बेहद उलझा हुआ है। ऐसे रचनाकार बिना जटिल शिल्प के रचना नहीं कर सकते। कारण यह कि वे नए कथ्य को नए शिल्प

में ही कह पाने में ही अपने को सक्षम समझते हैं...पाते हैं। राजकमल चौधरी की कविताएं देखे तो हमारी बात स्पष्ट हो जाएगी। किंतु इस प्रश्न को मात्र कवि की व्यक्तिगत जटिलता के अर्थ में ना समझें। कवि- व्यक्तित्व की जटिलता, सामाजिक जटिलता का ही परिणाम है।

आजकल रचनाकार की ख्याति और यश का संबंध राजनीतिक हो चला है। विभिन्न लेखक संगठन और उनके लेखक...एक तरह से साहित्य और साहित्यकारों के विज्ञापन कार्य में लगे रहते हैं। वाकई या विज्ञापन का युग है। इस राजनीतिक विज्ञापन के युग में राजनीति की तर्ज पर साहित्यिक जगत की राजनीति पैदा की जाती है। इस साहित्यिक राजनीति में कोई लेखक बड़ा तथा कोई लेखक छोटा सिद्ध किया जाता है। साठ के दशक को याद करें प्रगतिशील लेखक संगठनों ने किस प्रकार मुक्तिबोध को बड़ा तथा अज्ञेय को छोटा लेखक सिद्ध करने की साजिश रची थी, उससे हम सब परिचित ही हैं। इस प्रयास में अचानक से कोई लेखक यशस्वी तथा कोई लेखक उपेक्षित हो जाता है...और एक बार यह हो गया तो काल के लंबे प्रवाह में ही पूर्व के गलत कार्यों में संतुलन स्थापित हो पाता है।

रचनाकार और उसकी यश-प्राप्ति का एक संबंध रचना और उसके मनोविज्ञान से भी जुड़ा हुआ है। वही रचनाकार लंबे समय तक यश प्रार्थी हो जाता है, हो सकता है, जिसने मनुष्य- मन की मूल वृत्तियों को रेखांकित किया हो। मूल वृत्तियों के रेखांकन को कुछ लोग मनुष्य की दमित वासनाओं की अभिव्यक्ति समझने लगते हैं, यह चिंताजनक स्थिति है। मूल वृत्तियों का एक सीधा -सा अर्थ काम, क्रोध, घृणा जैसे मन के विकारों से जोड़ लिया जाता है; जो एक हद तक उचित भी हैं, किंतु स्मरण रहे कि एक हद तक ही। मूल वृत्तियां साहित्य में आकर वही नहीं रह जाती जैसे कि मनोविज्ञान में होती हैं। मनोविज्ञान में आई हुई मूल वृत्ति साहित्य में आकर भाव-संवेदना के रूप में परिणत हो जाती है। इस प्रकार मनोविज्ञान, साहित्य के लिए कच्चे माल जैसा बन जाता है। आधार स्रोत के रूप में ढल जाता है, बन जाता है। इसलिए भी मूल वृत्ति के अर्थ विस्तार की जरूरत है। जब अज्ञेय कहते हैं कि 'आधुनिक मनुष्य यौन वर्जनाओं का पुंज है' तो वे मनोवैज्ञानिक वक्तव्य दे रहे होते हैं, साहित्यिक वक्तव्य नहीं। साहित्यशास्त्र या काव्यशास्त्र में स्थाई भाव और रस में फर्क किया गया है। हां यह सही है कि रस का आधार स्थायी भाव ही होते हैं, किंतु उनकी स्थिति में बहुत अंतर होता है। जैसे रथ स्थाई भाव श्रृंगार रस में , हास, हास्य रस में शोक, करुण रस में, क्रोध, रौद्र रस में, उत्साह, वीर रस में , भय, भयानक रस में, घृणा/जुगुप्सा वीभत्स में, आश्चर्य, अद्भुत रस में, निर्वेद, शांत रस में, वत्सल, वात्सल्य रस में, प्रपत्ति, भक्ति रस में परिणत हो जाता है। यहां हम स्पष्ट रूप से देख सकते हैं कि स्थाई भाव और रस में तात्विक भेद है। स्थाई भाव सामान्य जीवन के मनोविकार है किंतु रस साहित्यिक जगत के मनोविकार। साहित्य का कार्य सामान्य भाव को विशिष्ट अर्थ प्रदान करना है। जैसे रति भाव एक स्त्री-पुरुष के बीच का मनोविकार है या मूल भाव है; किंतु क्या साहित्य -मात्र में इसी रूप में स्वीकार कर सकता है? साहित्य में रति भाव को को आश्रय, आलंबन, उद्दीपन यानी कर्ता- कर्म- क्रिया व सामाजिक परिवेश की प्रक्रिया के बीच रखकर गुजारा जाता है। यानी स्थाई भाव साहित्य के लिए मात्र प्राथमिक हैं, आधार स्रोत। साहित्य की यात्रा स्थाई भाव को रस (संवेदना) बनाने में अपनी सार्थकता तलाशती

है। इसीलिए मूल वृत्ति का अर्थ जो लोग मनोविश्लेषण समझते हैं वह भ्रम और नादानी के शिकार हैं। साहित्य में आकर मूल वृत्तियों का रेचन होता है। वे एक विशेष सामाजिक प्रक्रिया के बीच से गुजरते हैं; फिर भी संवेदना के माध्यम बनते हैं। अतः इसे दूसरे ढंग से समझने की आवश्यकता है। प्रश्न किया जा सकता है कि हर वर्ष के लोकप्रिय लेखक दूसरे शब्दों में यश प्राप्त लेखक कुछ वर्ष पश्चात गुमनामी में क्यों चले जाते हैं? बेस्ट सेलर की खिताब से नवाजी गई अधिकांश कृतियां अपने प्रकाशन के कुछ वर्ष पश्चात अलोकप्रिय क्यों हो जाती हैं? प्रश्न है कि क्या उनकी कृति तात्कालिक वृत्ति की पूर्ति के सिद्धांत पर रची जाती है? पश्चिम के अधिकांश लेखक किसी एक तात्कालिक-लोकप्रिय समस्या को अपनी रचना का विषय बनाते हैं। फिर वह समस्या पुरानी पड़ी और इधर रचनाकार की कीर्ति। इसलिए मूल वृत्ति की तात्कालिकता और मूल वृत्ति की सार्वभौमिकता के बीच के पार्थक्य को हमें समझने की आवश्यकता है। प्रश्न है कि मूल वृत्ति की तात्कालिकता और मूल वृत्ति की सार्वभौमिकता के बीच मुख्य भेद क्या है? मूल वृत्ति की तात्कालिकताा क्षणिक आवेश, तात्कालिक प्रभाव के प्रतिरूप तक सीमित रहते हैं; जबकि मूल मनोवृत्ति की सार्वभौमिकता का संबंध...प्रश्न बड़े सामाजिक प्रश्न तथा भाव के सृजनात्मक रूप से जुड़े होते हैं। कृतिकार का यश इसी पर निर्भर करता है।

अभ्यास प्रश्न)1

सही/ गलत का चुनाव कीजिये।

1. काव्य प्रयोजन पर सबसे पहले भरत मुनि ने विचार किया है।
2. आनंद के लिए वामन ने प्रीति शब्द का प्रयोग किया है।
3. आनंदवर्द्धन ने हृदय के आनंद को मुख्य काव्य प्रयोजन स्वीकार किया है।
4. मम्मट ने 6 काव्य प्रयोजन माने हैं।
5. आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता का प्रयोजन लोक भाव भूमि पर प्रतिष्ठा करने को माना है।

8.5 रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयोजन

हिंदी का रीतिकालीन आचार्य संस्कृत काव्यशास्त्र से ही प्रेरणा ग्रहण करता है। काव्य प्रयोजन के सन्दर्भ में इसलिए रीतिकालीन आचार्यों में मौलिकता कम ही देखने को मिलती है। यहाँ हम कुछ प्रमुख रीतिकालीन आचार्यों के मत को यहाँ देखेंगे। आचार्य कुलपति मिश्र ने काव्य प्रयोजन पर विचार करते हुए लिखा है -

जस संपत्ति आनंद अति दुखित बारे खोय।
होत कविता ते चतुरई जगत राम बस होय ।।

अर्थात यश प्राप्ति, धन, संपत्ति लाभ, आनंद प्राप्ति तथा व्यवहार ज्ञान ही काव्य के प्रयोजन है।

इसी तरह देव ने काव्य प्रयोजन के बारे में लिखा-

ऊंच नीच अरु कर्म, बस चलो जात संसार

रहत भव्य भगवंत जस भव्य काव्य सुखसार ।।

उनके अनुसार, यश और भव्य आनंद ही काव्य का सार या प्रयोजन है। देव वामन तथा अभिनवगुप्त के प्रयोजन विषयक विचारों का समर्थन करते प्रतीत होते हैं।

एक अन्य रीति आचार्य सोमनाथ ने काव्य प्रयोजन पर लिखा है -

कीरति वित्त विनोद अइ अति मंगल को देति ।

करै भलो उपदेश नित वह कवित्त चित्त चेति ।।

उनके बाद एक प्रकार से मम्मट के विचारों की ही आवृत्ति हुई है। सोमनाथ ने कीर्ति, धन, विनोद, अनिष्ट नाश और उपदेश को काव्य प्रयोजन माना है। सोमनाथ के अनुसार -

कीरति वित्त विनोद अइ अति मंगल को देति।

करै भलो उपदेश नित वह कवित्त चित्त चेति ।।

इस प्रकार देखा जाए तो रीतिकालीन आचार्य कवियों ने संस्कृत आचार्यों के काव्य प्रयोजन विषयक विचारों को ही स्वीकार किया है।

8.6 आधुनिक साहित्य का काव्य प्रयोजन

आधुनिकता ने हमारी काव्य दृष्टि में बड़े परिवर्तन उपस्थित किये। हमारी दृष्टि में यह परिवर्तन आधारगत परिवर्तन के कारण सम्भव हुआ है। पश्चिम के आलोचकों ने भी काव्य को नैतिक ढंग से देखा है। हालांकि यह नैतिकता इतनी स्थूल नहीं है।

आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने कविता का प्रयोजन या कार्य मनुष्य को लोक भाव भूमि पर प्रतिष्ठित करना माना है। कविता यदि लोक भाव भूमि पर प्रतिष्ठित है तो उसमें जीवन, समाज के सत्य मुखर होंगे ही। आचार्य शुक्ल ने इसीलिए कविता का कार्य मात्र मनोरंजन करना न मानकर लोक मंगल ही माना है। उन्होंने लोकरंजन काव्य की अपेक्षा लोक मंगल काव्य को ज्यादा महत्व दिया है। आचार्य शुक्ल के ऊपर तुलसीदास का प्रभाव था ।तुलसीदास ने बहुत पहले कविता का कार्य 'सुरसरि सम सब कर हित होइ' को कविता का मूल कार्य कहा था। इस ढंग से प्रेमचंद का साहित्य का उद्देश्य नामक निबंध को कम आधुनिक काव्य प्रयोजन का घोषणा पत्र कह सकते हैं । प्रेमचंद ने लिखा है -" हम साहित्य को केवल मनोरंजन और विलासिता की वस्तु नहीं समझते। हमारी कसौटी पर वही साहित्य खरा उतरेगा, जिसमें उच्च चिंतन हो, स्वाधीनता का भाव हो, सौंदर्य का सार हो, सृजन की आत्मा हो, जीवन की सच्चाईयों का प्रकाश हो, जो हममें गति, संघर्ष और बेचैनी पैदा करे। सुलाए नहीं, क्योंकि अब ज्यादा सोना मृत्यु का लक्षण है"।

प्रेमचंद हों या निराला या मुक्तिबोध...या आधुनिक काल का कोई भी सचेत साहित्यकार काव्य के प्रयोजन को लेकर उसके विचार समाज की बुनियादी समस्याओं पर केंद्रित रहे हैं । आज का बौद्धिक, सचेत साहित्यिक एक जन दबाव में रचना करता है। वह बदलाव की कोशिश में कविता की भूमिका

को देखता है। तय है कि आज का काव्य प्रयोजन भी यश और अर्थ प्राप्ति से अलग ढंग से हमारे सामने आएगा।

अभ्यास प्रश्न 2

टिप्पणी कीजिये।

1. यश काव्य प्रयोजन

.....

.....

.....

2. रीतिकालीन कवियों का काव्य प्रयोजन

.....

.....

.....

8.7 सारांश

काव्य प्रयोजन सम्बन्धी इस इकाई का आपने अध्ययन किया। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपने जाना कि-

- मनुष्य के हर कार्य प्रयोजन पूर्ण होते हैं। तो काव्य लिखने का भी प्रयोजन अवश्य ही होना चाहिए। काव्य प्रयोजन कविता लिखने के उद्देश्य पर प्रकाश डालता है।
- कविता लिखने के कई उद्देश्य हो सकते हैं। अर्थ की प्राप्ति, यश की कामना, अशिव विचारों का नाश, आनंद की प्राप्ति समेत अनेक बिंदु काव्य प्रयोजन के बिंदु होते हैं।
- मम्मट द्वारा निरुपित काव्य प्रयोजन सर्वाधिक लोकप्रिय रहा है।

8.8 शब्दावली

- पुरुषार्थ चतुष्टय – धर्म, अर्थ, काम, मोक्ष नामक तत्व
- आनंदानुभव – आनंद का अनुभव
- लोकोत्तर आनंद- इस लोक के भौतिक आनंद से भिन्न का आनंद
- अशिव – अशुभ विचार
- जनपक्षधरता- जनता के पक्ष में खड़े होने का भाव
- वैयक्तिक अनुभूति – स्वयम द्वारा प्राप्त अनुभूति
- निर्वैयक्तिकता – स्व के धरातल से ऊपर उठने का भाव

- व्यक्तित्वावान्त्रण – व्यक्तित्व में हुआ सकारात्मक रूपांतरण

8.9 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही
2. सही
3. सही
4. सही
5. सही

8.10 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. संस्कृत आलोचना – बलदेव उपाध्याय
2. काव्य के तत्व- देवेन्द्रनाथ शर्मा

8.11 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. हिंदी साहित्य ज्ञान कोश- प्रधान संपादक शम्भुनाथ

8.12 निबंधात्मक प्रश्न

1. मम्मट कृत काव्य प्रयोजन पर टिप्पणी करें।
2. रीतिकालीन आचार्यों द्वारा निरुपित काव्य प्रयोजन पर टिप्पणी करें।

इकाई- 9 काव्य गुण

इकाई की रुपरेखा

9.1 प्रस्तावना
9.2 उद्देश्य
9.3 काव्य गुण- भेद, स्वरुप एवं इतिहास
9.4 वामन कृत काव्य गुण विवेचन
9.5 रीतिकालीन कवियों का काव्य गुण विवेचन
9.6 सारांश
9.7 शब्दावली
9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
9.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
9.11 निबंधात्मक प्रश्न

9.1 प्रस्तावना

मनुष्य हो या कविता, वह तभी समादृत होती है, जब उसमें गुण हो। काव्य शास्त्र में गुण का अर्थ ऐसे तत्व से रहा है जो रस की वृद्धि करे। काव्य गुण कविता के स्वभाव के अनुरूप अपने अर्थ का विस्तार करते हैं। काव्य गुणों को हम कविता के आंतरिक सौंदर्य के रूप में भी समझ सकते हैं। आचार्य वामन ने गुण की सत्ता को नित्य माना था। नित्य का अर्थ है ये हमेशा काव्य और कविता में वर्तमान रहते हैं। काव्य गुण कविता के आंतरिक सौंदर्य को ही कहते हैं। दूसरे अर्थ में काव्य गुण कविता की प्रकृति हैं।

9.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन शीर्षक पाठ्य पुस्तक की यह नौं वीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आप—

- काव्य गुण का अर्थ समझ सकेंगे।
- काव्य गुणों के भेदों से परिचित हो सकेंगे।
- वामन कृत काव्य गुणों का परिचय प्राप्त कर सकेंगे।
- रीतिकालीन आचार्यों द्वारा निरुपित काव्य गुणों को जान सकेंगे।

9.3 काव्य-गुण भेद, स्वरुप एवं इतिहास

काव्य गुण को प्राय: आचार्यों ने तीन माने हैं - माधुर्य, ओज और प्रसाद। किन्तु वास्तविक रूप में इनकी संख्या दस मानी गयी है। गंभीरतापूर्वक विचार करें तो गुण और भी हो सकते हैं। यहाँ हम काव्य गुण के काव्यशास्त्रीय विकास को रेखांकित करेंगे।

गुण का स्वरूप एवं इतिहास

वामन और आनन्दवर्द्धन, केवल ये दो ही आचार्य हैं जिन्होंने गुण का स्वतंत्र लक्षण प्रस्तुत किया है। मम्मट और विश्वनाथ पर आनंदवर्द्धन का प्रभाव है और हेमचंद्र पर वामन का प्रभाव स्वीकार किया गया है। वामन से पूर्व भरत और दण्डी ने गुण पर विचार किया है।

आचार्य भरत मुनि ने श्लेष, प्रसाद, समता, समाधि, माधुर्य, ओजस, पदसौकुमार्य, अर्थव्यक्ति, उदारता और कान्ति आदि दस गुणों को काव्य के गुण स्वीकार करते हुए इन्हें दस दोषों से विपर्य्यस्त माना है :

एते दोषास्तु विज्ञेयाः सूरिभिः नाटकाश्रयाः ।
एत एव विपर्यस्ताः, गुणाः काव्येषु कीर्तिताः ।। ना० शा० 17.95

आचार्य भरत के दस शब्द गुणों को ही थोड़े अंतर के साथ आचार्य भामह और दंडी ने स्वीकार कर लिया।

(क) भरत-सम्मत गुणों में। समता, माधुर्य, ओज और कांति शब्दगत है, समाधि और अर्थव्यक्ति अर्थगत है, और श्लेष, प्रसाद, सौकुमार्ग और कान्ति शब्दार्थगत है।

(ख) श्लेष, समता, औज और सुकुमारता शब्जगत है।

(ग) वागन के शब्दगुणों में अर्थव्यक्ति और कांति को तथा अर्थों में प्रसाद और ओज को शब्द गुण कहा जा सकता है।

(घ) पारिभाषिक शब्दावली में अंतर होते हुए भी निम्नलिखित गुर्गा के लक्षण लगभग एक से है-

(1) प्रसाद, समाधि, कांति भरत तथा दण्डी और वामन-सम्मत (अर्थगत)
(2) सुकुमारता, अर्थव्यक्ति भरत तथा दण्डी और वामन-सम्मत (अर्थगत)
(3) सुकुमारता- भरत और वामन-सम्मत (दोनों के अर्थगत)
(4) समता दण्डी और वामन-सम्मत (शब्दगत)
(5) ओज भरत और दण्डी
(6) श्लेष दंडी सम्मत तथा शब्दगत ओज वामन-सम्मत

9.4 वामन कृत काव्य गुण विवेचन

इस प्रकार हम देखते हैं कि शब्द गुण के सन्दर्भ में आचार्यों में मत भिन्नता है।

काव्य गुण पर सबसे पहले व्यवस्थित विचार आचार्य वामन ने किया। वामन की देन यह थी कि उन्होंने दस शब्द गुणों के साथ ही दस अर्थ गुणों की भी परिकल्पना प्रस्तुत की। वामन ने रीति को काव्य की आत्मा मानते हुए भी गुण को उसका विशेष धर्म कहा। वामन स्पष्ट कहते हैं कि जैसे सुन्दर स्त्री की काया में यौवन रहता है, वैसे ही काव्य में गुण रहता है। यहाँ वामन के दस शब्द गुण और दस अर्थ गुणों को देखना उचित होगा।।

वामन कृत दस शब्द गुणों का लक्षण

गाढबन्धत्वमोजः । शैथिल्यं प्रसादः । मसृणत्वं श्लेषः । मार्गाभेदः अ मता। आरोहावरोहक्रमः समाधिः । पृथक्पदत्वं माधुर्यम्। अजरठत्वं क सौकुमार्यम् । विकटत्वमुदारता । अर्थव्यक्तिहेतुत्वमर्थव्यक्तिः । औज्ज्वल्यं कान्तिः । (काव्यालंकारसूत्र ३.१५-२५)

(कविता में बन्ध का कसा हुआ होना ओजस् है। बन्ध का ढीला होना प्रसाद है। परिष्कार श्लेष है। मार्ग या रीति की अन्विति होनी समता है। आरोह और अवरोह का क्रम समाधि है। पदों का अलग-अलग होना माधुर्य है। पदों में कठोरता न होना सौकुमार्य है और उनमें विकटता का होना उदारता है। अर्थ का स्पष्ट प्रकट होना अर्थव्यक्ति है। उज्ज्वलता कान्ति है।)

वामन कृत दस अर्थ गुणों का लक्षण

अर्थस्य प्रौढिरोजः । अर्थवैमल्यं प्रसादः । घटना श्लेषः । अवैषम्यं समता। अर्थदृष्टिः समाधिः । उक्तिवैचित्र्यं माधुर्यम्। अपारुष्यं सौकुमार्यम् । अग्राम्यत्वमुदारता। वस्तुस्वभावस्फुटत्वमर्थव्यक्तिः । दीप्तरसत्वं कान्तिः । (वही, ३.२.२-१४)

(अर्थ की प्रौढ़ता ओजस् है। उसकी निर्मलता प्रसाद है। घटना या विशिष्ट संरचनात्मक अन्विति श्लेष है। विषमता का न होना समता है। अर्थ की दृष्टि या नए अर्थों का साक्षात्कार समाधि है। उक्ति की विचित्रता माधुर्य है। कठोरता का अभाव सौकुमार्य है। ग्राम्यता का अभाव उदारता है वस्तु के स्वभाव का स्फुट होना अर्थव्यक्ति है। रसों की उद्दीप्त होना कान्ति है।)

वामन का अर्थ गुण विवेचन

शब्दों से जो बन्ध बनता है, उसमें गाढ़ापन हो सकता है, शिथिलता हो ... सकती है। ये दोनों ओजस् और प्रसाद हैं। ये दोनों कविता में एक साथ चलते हैं। प्राय: हम कविता में ओज, प्रसाद, माधुर्य या अन्य काव्य गुणों को अलग-अलग ढंग से देखने के अभ्यासी हैं। आचार्य वामन ने श्लेष गुण पर विस्तार से चर्चा की है। श्लेष को अलंकारवादियों ने अलंकार माना है। वामन इसे अर्थ गुण के रूप में विश्लेषित करते हैं। वामन कहते हैं कि अर्थ अनेक क्रियाओं में गूंथ कर चलता है, इसे वे क्रम कहते हैं। फिर उसमें बांकपन आ जाता है, इसे वामन कौटिल्य कहते हैं। वह अर्थ जब परिचित होने लगता है, तब वह अनुल्बणत्व कहा जाता है। फिर कविता का अर्थ खुल जाता है, यह उपपत्ति है। वामन महाकाव्य के लिए श्लेष की अनिवार्यता मानते हैं। कविता में जब अर्थ में क्रम का भेद न रह जाए, तब समाधि गुण होता है। कवि द्वारा एकाग्र चित्त से वस्तु को देखना समाधि है। समाधि को वामन दो भागों में विभक्त करते हैं - अयोनि और अनयच्चायोनि । अर्थ की प्रकृति के आधार पर वामन फिर दो भेद करते हैं - व्यक्त और सूक्ष्म । व्यक्त तुरंत समझ में आने वाला अर्थ है। सूक्ष्म को वामन फिर भाव्य और वासनीय नामक भेदों में विभक्त करते हैं । शीघ्रता से प्राप्त होने वाला अर्थ भाव्य है और एकाग्रता से प्राप्त होने वाला अर्थ वासनीय है।

अर्थ का परिष्कार ही सौकुमार्य है। कविता में शब्दों का, अर्थों का प्रयोग इस ढंग से हो कि उसमें आभिजात्य आ जाए, तब सौकुमार्य होगा। उदारता को वामन अग्रामत्व मानते हैं। कविता में ग्रामीण पदावलियों का प्रयोग संस्कृत कविता और काव्यशास्त्र में दोष माना गया है। वामन उसी मत को मानते हैं, किन्तु आधुनिक दृष्टि में ग्रामयता दोष नहीं है। अर्थव्यक्ति को वामन वस्तु के स्वभाव के स्वरुप की स्पष्ट झलक को मानते हैं। कान्ति को वामन ने रस के उद्दीप्त होने की अवस्था माना है। कान्ति में वामन सारे भेदों को समाहित कर लेते हैं।

इस प्रकार आचार्य वामन का गुण विवेचन कई दृष्टियों से विशिष्ट है।

अभ्यास प्रश्न) 1

सही/ गलत का चुनाव कीजिये।

1. माधुर्य गुण में कोमल वर्णों का प्रयोग होता है।
2. प्रसाद गुण में कठोर वर्णों का प्रयोग होता है।

3. वामन ने सबसे पहले 10 अर्थ गुणों पर विचार किया है।
4. गुण को रस का नित्य धर्म कहा गया है।
5. भरत मुनि ने सबसे पहले काव्य गुणों पर विचार किया है।

9.5 रीतिकवियों का गुण विवेचन

चिन्तामणि का गुण-निरूपण

चिन्तामणि से पूर्ववतों दो आचार्य प्रसिद्ध है कृपाराम और केशव। पर इन दोनों ने गुण का निरूपण नहीं किया गया।

चिन्तामणि ने अपने ग्रंथ 'कविकुलकल्पतरू' के प्रथम प्रकरण में ही गुण-निरुपण किया है जिसे चार भागों में विभक्त कर सकते हैं:

1. गुण और अलंकार की वास्तविक स्थिति
2. रस के धर्म गुणों का स्वरूप
3. वर्णादि के धर्म गुंगों का स्वरूप
4. वामन-सम्मत शब्दगत और अर्थगत गुणों का स्वरूप और उनका खंडन

कुलपति

1. कुलपति गुण के संबंध में मम्मटादि रसध्वनिवादि आचार्यों से पूर्णतया सहमत हैं - रस के साथ इसके अचल भाव से स्थित होने के विषय में भी और गुणों की संख्या दस या बीच के स्थान पर तीन मानने के विषय में भी।

2. तीनों गुणों के कुलपति-प्रस्तुत लक्षण मम्मट सम्मत पूर्ण और यथार्थ स्वरूप को समझाने में शिथिल हैं। इन लक्षणों से गुणों के बंध और व्यंजक वर्गों के संबंध में भी यथेष्ट परिचय प्राप्त नहीं होता।

3. वामन-सम्मत बीस गुणों की चर्चा इन्हीं ने नहीं की। खंडनीय और अमान्य धारणा पर प्रकाश डालने में भला आनंद ही क्या - इतना कहकर वे आगे बढ़ गए हैं। पर इस प्रसंग के बिना यह निरूपण अपूर्ण रह गया है।

4. कुलपति गुण को काव्य का एक आवश्यक अंग स्वीकार करते हैं। उनके कथनानुसार रचना चाहे दोष-रहित भी क्यों न हो, पर गुण के बिना आनंददायक कदापि नहीं हो सकती:

दोष रहित हू गुण बिना सुखदायक नहिं होय।

उनके इस कथन द्वारा भी गुण और रस का नित्य संबंध स्वतःसिद्ध है।

5. माधुर्य गुण को 'अति आनन्द प्रधान' कहते हुए इन्होंने भी चिन्तामणि के समान माधुर्य गुण की सर्वोत्कृष्टता द्वारा प्रकारांतर से श्रृंगार रस की सर्वोत्कृष्टता घोषित की है। कुलपति का यह प्रकरण अत्यंत संक्षिप्त और अपूर्ण है, और शैली भी शिथिल है, पर इतनी नहीं जितनी कि चिन्तामणि के इस प्रकरण की।

भिखारीदास का गुण विवेचन

भिखारीदास ने गुणों का वास्तविक रूप जानने के लिए यदि वामन के न सही, विश्वनाथ के ही उदाहरणों को देखने का कष्ट उठाया होता; तो उनका यह निरूपण इतने अस्वच्छ और भ्रांत रूप में प्रतिपादित न होता।

गुण वर्गीकरण इस प्रसंग में दास की एक ही महत्त्वपूर्ण देन है। दस गुणों का निम्रांत वर्गीकरण'

1. अक्षर-गुण- माधुर्य, ओज, प्रसाद
2. वाक्य-गुण- श्लेप, पुनरुक्तिप्रकाश
3. अर्थ-गुण अर्थव्यक्ति, समाधि
4. दोषाभाव गुण समता, कांति, उदारता।

निष्कर्ष

चिन्तामणि आदि आचार्यों ने प्रमुखतः मम्मट के आधार पर गुण का निरूपण किया है। इनमें से चिन्तामणि और दास ने वामन-सम्मत दस गुणों का भी उल्लेख किया है। कुल मिलाकर चिन्तामणि का गुण-प्रकरण अपेक्षाकृत अधिक व्यवस्थित, शास्त्र-सम्मत और विशुद्ध है। कुलपति और सोमनाथ का यह प्रकरण सामान्य कोटि का है, और प्रतापसाहि का अत्यंत शिथिल है। दास के इस प्रकरण में मौलिकताओं और भ्रांतियों का विचित्र सम्मिश्रण है।

अभ्यास प्रश्न) 2

टिप्पणी कीजिये।

1. आचार्य वामन कृत शब्द गुण

.....

.....

.....

2. आचार्य वामन कृत अर्थ गुण

.....

.....

.....

9.6 सारांश

काव्य गुण शीर्षक इस इकाई के अध्ययन के उपरान्त आपने जाना कि—

- कविता गुणों से सार्थक होती है। माधुर्य, ओज एवं प्रसाद जैसे गुण कविता को सार्थक स्वर प्रदान करते हैं।
- वामन ने काव्य गुणों की संख्या को 10 मानी तथा उन्हें कविता की संरचना के लिए आवश्यक माना।
- रीतिकालीन आचार्यों का काव्य गुण विवेचन भी मौलिक दृष्टि से महत्वपूर्ण है।

- काव्य गुण रस तक पहुंचाने के प्रमुख आधार हैं।

9.7 शब्दावली

- समादृत – आदर पाना
- विपर्यय- विपरीत , विलोम
- बंध- बंधा हुआ, बांधा हुआ
- परिष्कार- शुद्धता की स्थिति
- आरोह-अवरोह – भाव के तीव्रता-मंदता की स्थिति
- आभिजात्य- भाव में बडप्पन
- उद्दीपन – भावों का तीव्र होना , बढ़ना

9.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही
2. गलत
3. सही
4. सही
5. सही

9.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिंदी आलोचना के पारिभाषिक शब्द – अमरनाथ
2. हिंदी आलोचना के बीज शब्द – बच्चन सिंह

9.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय काव्यशास्त्र की आचार्य परम्परा- राधावल्लभ त्रिपाठी
2. भारतीय काव्य विमर्श – राममूर्ति त्रिपाठी

9.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. वामन कृत काव्य गुणों पर निबंध लिखिए।

2. रीतिकालीन आचार्यों द्वारा निरुपित काव्य गुणों पर विचार कीजिये।

इकाई 10- काव्य दोष

इकाई की रुपरेखा

10. प्रस्तावना
10.2 उद्देश्य
10.3 काव्य दोष- अर्थ, भेद एवं प्रकार
10.4 रीतिकालीन आचार्यों द्वारा निरुपित काव्य दोष
10.5 काव्य दोष: नयी दृष्टि
10.6 सारांश
10.7 शब्दावली
10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
10.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री
10.11 निबंधात्मक प्रश्न

10.1 प्रस्तावना

कविता को निर्दोष रखने की कामना हर कवि करता है। इसीलिए भारतीय काव्य शास्त्र का काव्य दोष प्रकरण अपने आप में विशिष्ट है। काव्य दोष प्रकरण में कविता के विभिन्न स्थल खोजें गए हैं, जो कविता को दूषित करते हैं। एक कविता गुण से युक्त होनी चाहिए तथा दोष से रहित होनी चाहिए, किन्तु क्या यह संभव है? बड़ी-से-बड़ी रचनाएं भी किसी-न-किसी दोष से युक्त रहती ही हैं। इसीलिए काव्य शास्त्र में दोष के विभिन्न स्थल खोजे गए हैं । वस्तुतः काव्य दोष प्रकरण कविता को सार्थक करने का एक विधान है। किन्तु आधुनिक दृष्टि काव्य दोष प्रकरण पर नये ढंग से विचार करती है। पुराने आचार्यों द्वारा निरुपित बहुत से काव्य दोष आज नये ढंग से विचार की मांग करते हैं। इस इकाई में हम काव्य दोष प्रकरण पर पुराने आचार्यों के मतों के साथ ही नयी दृष्टि के साथ भी अध्ययन करेंगे।

10.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन सम्बन्धी इस पाठय पुस्तक की यह 10 वीं इकाई है । इस इकाई के अध्ययन के उपरांत आप—

- काव्य दोष का अर्थ समझ सकेंगे।
- काव्य दोष के विभिन्न तत्वों की जानकारी प्राप्त कर सकेंगे।
- काव्य दोष पर संस्कृत आचार्यों के मतों को जान सकेंगे।
- काव्य दोष पर रीतिकालीन आचार्यों के मतों का अध्ययन कर सकेंगे।
- काव्य दोष पर आधुनिक दृष्टि से विचार कर सकेंगे।

10.3 काव्य दोष: अर्थ भेद व प्रकार

दोष-भेदों की संख्या भरत के समय में दस थी, पर मम्मट के समय तक यह नब्बे तक जा पहुँची। मम्मट ने इन्हें पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस गत प्रकारों में विभाजित किया। आनन्दवर्द्धन से पूर्व रसगत दोषों के अस्तित्व का प्रश्न ही नहीं उठता। मम्मट सम्मत रसदोषों का दायित्व आनन्दवर्द्धन पर है। शेष दोष-प्रकारों के अधिकांश भेदों का मूल स्रोत भरत, भामह, दण्डी, वामन, रुद्रट और महिमभट्ट द्वारा स्वीकृत दोषों में बड़ी सरलता से ढूँढा जा सकता है। इन दोषों की निम्नलिखित सूची से उक्त कथन की पुष्टि हो जाएगी।

अगूढ, अर्थान्तर, अर्थहीन, भिन्नार्थ, एकार्थ, अभिप्लुतार्थ, न्याय से अपेत, विषम, विसंधि और शब्दच्युत

भरत- कृत 10 दोष'

भामह-कृत 25 दोष -

और गूढ़ शब्दाभिधान
(क) सामान्य दोष - नेयार्थ, क्लिष्ट, अन्यार्थ, अवाचक, अयुक्तिमत्
(ख) वाणी के दोष- श्रुतिदुष्ट, अर्थदुष्ट, कल्पनादुष्ट और श्रुतिकष्ट
(ग) विस्तार दोष- विरुद्धपद, अस्वर्थ, बहुपूरण और आकुल'
(घ) अन्य दोष अपार्थ, व्यर्थ, एकार्थ, ससंशय, अपक्रम, शब्दहीन, मतिभ्रष्ट, भिन्नवृत्त, विसन्धि, देश-काल-कला-लोक-न्यायागम-विरोध और प्रतिज्ञा-हेतु-दृष्टांत-हीनता

दंडी कृत 10 दोष
भामह-सम्मत उक्त अपार्थ आदि 11 दोषों में से प्रथम 10 दोष
दण्डी के मत में अंतिम 'प्रतिज्ञा, हेतु तथा दृष्टांत से हीनता' नामक दोष का निरूपण [केवल शास्त्रीय सरणी के अवगाहन पर अवलंबित होने के कारण] रूक्ष है, अतः उसे सरस साहित्यग्रंथों में स्थान नहीं मिलना चाहिए।

वामन-सम्मत 20 दोष:
(क) पदगत असाधु, कष्ट, ग्राम्य, अप्प्रतीत और अनर्थक (ख) पदार्थगत- अन्यार्थ, नेवार्थ, गूढार्थ, अश्लील और क्लिष्ट
(ग) वाक्यगत भिन्नवृत्त, यतिभ्रष्ट और विमेधि
(घ) वाक्यार्थगत व्यर्थ एकार्थ संदिग्ध अप्रयुक्त, अपक्रम,
लोकविरुद्ध और विद्याविरुद्ध

रुद्रट-सम्मत 26 दोष
(क) पददोष असमर्थ, अप्रतीति, विसंधि, विपरीतकल्पना, ग्राम्यता,
अव्युत्पत्ति और देश्य
ख) वाक्यदोष संकीर्ण, गर्भित, गतार्थ और अनलंकार
(ग) अर्थदोष अपहेतु, अप्रतीत, निरागम, बाधयन्, असंबद्ध, ग्राम्य, विरस, तद्वान् और अतिमात्र
(घ) गुणों के वैपरीत्य से संभव अथवा पैदवाक्यगत दोष - न्यूनपदता, अधिकपदता, अवाचकता, अपक्रमता, अपुष्टार्थता और अचारुपदता

आनन्दवर्द्धन-सम्मत रसविरोधी 6 तत्त्व-
विरोधी रस के विभावादि का ग्रहण, रस से संबद्ध भी अन्य वस्तु का सविस्तार वर्णन, अममव पर रस की समाप्ति तथा प्रकाशन, परिपुष्ट भी रस की पुनः पुनः दीप्ति, और वृत्ति (व्यवहार) का अनौचित्य।
महिमभट्ट ने दोष के स्थान पर 'अनौचित्य' शब्द का प्रयोग किया है। अनीचित्य दो प्रकार का है - अंतरंग (अर्थविषयक) और बहिरंग (शब्दविषयक)। अंतरंग अनौचित्य पर रसों में विभाव, अनुभाव और व्यभिचारिभावों के अनुचित विनियोग (प्रयोग) का उत्तरदायित्व है। इस पर महिमभट्ट ने प्रकाश नहीं डाला। बहिरंग अथवा शब्दगत अनौचित्य के नवीन पाँच भेदों का विद्वान् आचार्य ने गंभीरतापूर्ण विवेचन किया है, जिसे मम्मट ने अपने शब्ददोषों में लगभग ज्यों का त्यों अपना लिया है। वे भेद है-

विधेयामर्श, प्रकमभेद, क्रमभेद, पौनरुक्त्य और वाच्यावचन ।

इस प्रकार **मम्मट** से पूर्व दोषों की एक लंबी सूची प्रस्तुत हो चुकी थी। काव्य के अन्य अंगों के समान मम्मट ने इस अंग को भी नवीन और व्यवस्थित रूप दिया है। पर इनकी नवीनता दोषों को पद, पदांश, वाक्य, अर्थ और रस गत रूपों में वर्गीबद्ध करने में निहित नहीं है, यह कार्य तो वामन, रुद्रट, भोजराज आदि आचार्य पहले ही संपन्न कर चुके थे। हाँ, इन्होंने उन आचार्यों से प्रेरणा प्राप्त कर उक्त वर्गीकरण को व्यवस्थित रूप अवश्य दे दिया।

वस्तुतः, मम्मट की प्रमुख विशिष्टता है परंपरागत दोषों को रस से संबद्ध कर देना। इन्होंने दोष का स्वरूप भी यही माना है- 'जो मुख्यार्थ अर्थात् रस का अपकर्षक है। रस अर्थ की अपेक्षा रखता है, और शब्दादि (पद, पदांश और वाक्य) रस और अर्थ दोनों के उपयोगी हैं। अतः दोष न केवल रसगत है, अपितु अर्थ, पदांश और वाक्यगत भी है।' वर्गीकरण के इस श्रृंखलाबद्ध

अभ्यास प्रश्न)1

सही/ गलत का चुनाव कीजिये।

1. अश्लीलता को काव्य दोष कहा गया है।
2. ग्राम्यता काव्य दोष है।
3. श्रुतिकटुत्व काव्य दोष है।
4. च्युतसंस्कृति काव्य गुण है।
5. काठिन्य काव्य गुण है।

10.4 रीतिकालीन आचार्यों द्वारा निरुपित काव्य दोष

केशव

केशव का दोष-प्रकरणंर्ण उपलब्ध है। इन्होंने कांतिप्रिया में 18 दोषों का निरूपण किया है, तथा रसिकप्रिया में 5 दोषों का। कविप्रिया के प्रथम पाँच दोष संभवतः केशव की कल्पना की उपज है- अंघ, बधिर, पंगू, नम्र और मृतक। उनके कथनानुसार परंपरागत कवि-समय से विरुद्धता का नाम 'अंध' है। आपततः विरोधोत्पादक शब्दों के प्रयोग को 'बधिर' कहते हैं। छंदशाख से विपरीत रचना 'पंगु' कहाती है। अलंकार-रहित रचना 'नग्र' है, तथा निरर्थक रचना 'मृतक' ।' इन दोषों की गणना से पूर्व केशवदास इसी प्रसंग में कह आए हैं:

राजत रंच न दोष युन कविता वनिता मित्र। कः प्रिः 3.5

स्पष्ट है कि इसी कविता-वनिता के रूपर्क-निर्वाह के लिए ही उन्होंने 'अंध' आदि दोषों का नामकरण किया है, अन्यथा ये दोष कोई नवीन नहीं है। 'अंघ' मम्पट-सम्मत प्रसिद्धि-विरुद्ध है। 'बधिर' के केशव-प्रस्तुत उदाहरण में मम्मट-सम्मत असमर्थ दोष की छाया है। 'पंगु' दोष परंपरागत हतवृत्तता है। 'नत्र' दोष भामह आदि अलंकारवादी आचार्यों को भले ही स्वीकृत हो,' पर 'अनलंकृती पुनः क्वापि' मानने वाले आचार्य इसे स्वीकृत नहीं करेंगे। शेष रहा मृतक दोष, पर इस की सत्ता ही काव्य में संभव नहीं है।

निरर्थक वाक्यावली को जब वैयाकरण 'भाषा' नाम से अभिहित नहीं करता, तो चमत्कार-प्रिय काव्यशास्त्री का इसे काव्य न मानना स्वतः सिद्ध है।

कविप्रिया में वर्णित अन्य 13 दोषों में से अधिकांश का स्रोत दण्डी का काव्यादर्श है, तथा शेष मम्मटादि-सम्मत दोषों के रूपांतर मात्र है। इनके नाम हैं- अंगण, हीनरस, यतिभंग, व्यर्थ, अपार्थ, हौनक्रम, कर्णकटु, पुनरुक्ति, देश-काल-लोक-न्याय-आगम विरोध।

रसिक-प्रिया में पाँच अनरस (रस-विरोधी) दोषों का उल्लेख है- प्रत्यनीक, नीरस, विरस, दुःसंधान और पात्रादुष्ट।' प्रत्यनीक से तात्पर्य है परस्पर विरोधी रसों (श्रृंगार-शांत आदि) का सत्रिवेश। मम्मट ने इसे 'प्रतिकूलविभावादिग्रह' नाम दिया है। केशव-सम्मत 'विरस' भी उक्त दोष का ही एक प्रभाग है। 'नीरस' तथा 'दुःसंधान' दोष मम्मट के मत में 'रसाभास' है, तथा 'पात्रादुष्ट' को मम्मट-सम्मत 'अपुष्टार्थता' नाम दिया जा सकता है।

चिन्तामणि

कविकुलकल्पतरु के चतुर्थ प्रकरण में चिन्तामणि ने दोषों का निरूपण किया है जो कि 94 छंदों में समाप्त हुआ है।

इस निरूपण का आधार-ग्रंथ काव्यप्रकाश है। दोषों के नाम, उनका वर्गीकरण तथा स्वरूप और परिहार-प्रकार तो काव्यप्रकाश के प्रायः समान है ही, कुछ एक उदाहरणों में भी इसी ग्रंथ का अनुवाद अथवा छायानुवाद मिलता है।

दोष-विषयक धारणा

चिन्तामणि के कथनानुसार दोष शब्द, अर्थ और रस का अपकर्ष करता है। इसके श्रवण से हर्ष (काव्यानन्द) का नाश हो जाता है:

शब्द, अर्थ, रस को जु इत देखि परै अपकर्ष। तोष कहत है ताहि को, सुनै छदत है हर्ष॥

चिन्तामणि का यह कथन मम्मट के निर्ब्रलिखित दोष-स्वरूप का परिवर्तित रूप प्रस्तुत करता है:

मुख्यार्थहतिर्दोषः, रसश्च मुख्यः, तदाश्रयाद् वाच्यः।
उभयोपयोगिनः स्युः शब्दाद्यास्तेन तेष्वपि सः॥ काव्य प्रकाश

दोषों के प्रकार और संख्या

चिन्तामणि ने दोष चार प्रकार के माने हैं शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत।

(1) **शब्दगत दोष' श्रुतिकटु, च्युतसंस्कृति, अप्रयुक्त, असमर्थ, निहतार्थ, अनुचितार्थ, निरर्थक, अवाचक, अश्लील, संदिग्ध, अप्रतीत, ग्राम्य, नेयार्थ, क्लिष्ट, विरुद्धमतिकृत। (15)**

(2) वाक्यगत दोष प्रतिकूलाक्षर, हतवृत्त, न्यूनपद, अधिकपद, कथितपद, पतत्प्रकर्ष, समाप्तपुनरात्त, चरनांतरपद (अर्थातरैकवाचक), अभवन्मतजोग, अकथितवाच्य, अस्थान- स्पथपद, संकीर्ण, गर्भित, प्रसिद्धहत, भग्रक्रम, अक्रम, अमतपरार्थ।

(3) अर्थगत दोष' अपुष्ट, कष्ट, व्याहत, पुनरुक्त, ग्राम्य, संसयित, निर्हेतु, प्रसिद्धि- विरुद्ध, अनवीकृत, नियमहीन, अनियमहीन, विशेषहीन, सामान्यहीन, साकांक्ष, अपदयुक्त, सहचरभिन्न,

प्रकाशितविरुद्ध, त्यक्तपुनःस्वीकृत, अश्लील।

कुलपति - दोषों के प्रकार और संख्या

कुलपति ने दोषों के प्रमुख चार वर्ग माने हैं शब्दगत, वाक्यगत अर्थगत और रसगत। वर्गों का प्रमुख आधार है मम्मट-सम्मत 'अन्वय-व्यतिरेक-संबंध'

जाहि रहत ही जो रहे, जेहि फेरो फिरि जाय।
शब्द अर्थ रस सवन में, सोई दोष कहाय॥

प्रत्येक वर्ग के दोषों की संख्या इस प्रकार है:

(1) **शब्दगत 15 दोष चिन्तामणि द्वारा परिगणित तथा एक अन्य**

(2) वाक्यगत न्युनपद, अधिकपट, हतवृत, कथितपद, वर्णप्रतिकूल, पतित-प्रकर्ष, प्रसिद्धिहत, अभवन्यतयोग, भग्नप्रक्रम, अक्रम और अस्थानस्थ-पद

(3) अर्थगत- 17 दोष चिंतामणि द्वारा विवेचित तथा दो अन्य (4) रसगत १ दोष चिंतामणि द्वारा परिगणित अन्य दुष्क्रम और विद्याविरुद्ध

सोमनाथ

दोष के प्रकार और संख्या

सोमनाथ ने दोष के चार प्रकार माने हैं- शब्दगत, अर्थगत वाक्यगत और रसगत :

जाके राखे तें रहे दूरि करै मिटि जाय।
शब्दारथ अरु वाक को रस को दोष बताय॥

इनके अंतर्गत निरूपित दोषों के नाम ये हैं:

(1) **शब्दगत असमर्थ, कर्णकटु, अप्रयुक्त, अश्लील, और सन्दिग्ध**

(2) वाक्यगत न्यूनपद और हतवृत्त

(3) अर्थगत - सहचरभिन्न, चाहजुत (साकांक्ष), व्याहत, निर्हेतु, दुष्क्रम, पुनरुक्त, अनवीकृत, सामान्य में विशेष, विशेष में सामान्य, प्रसिद्धि-विरुद्ध, विद्या-विरुद्ध

(4) रसगत प्रकृति-विपर्यय

भिखारी दास

दोषविषयक धारणा

दोष के संबंध में दास ने मम्मट के समान न तो उसके 'रसापकर्णत्व' की ओर संकेत किया हैं, और न रसदोषों को अन्य दोषों की अपेक्षा प्रमुख दोष माना है। इस संबंध में उनका कथन है कि दोष कुरूपता-जनक हैं- 'दूधन करै कुरूपता', का० नि० 1.13। अतः ये त्याज्य है- 'तेहि तजि कविताई करें, सज्जन सुमति जोइ', का० नि० 23.1। पर उनके इन वाक्यों से दोष का स्वरूप स्पष्ट नहीं होता। 'कुरूपता' का जितना संबंध 'शब्दार्थ' रूप शरीर के साथ है, उतना 'रस' रूप आत्मा के साथ नहीं है। दास भी दोष को परंपरा संबंध से रस का कुरूपता-कारक (मम्मट के शब्दों में अपकर्षक) अवश्य स्वीकार करते होंगे, पर उनके ग्रंथ में कहीं भी इस विषय में स्पष्ट उल्लेख नहीं मिलता।

दोषों के प्रकार और संख्या

मम्मट के समान दास ने दोषों को चार प्रमुख वर्गों में विभक्त किया है- शब्दगत, वाक्यगत, अर्थगत और रसगत। इनकी संख्या क्रमशः 16, 17, 22 तथा 12 है, और योग 67 है।'

इनमें से वाक्यगत अस्थानस्थसमास और अक्रम को छोड़कर शेष 62 दोष चिन्तामणि द्वारा परिगणित अथवा विवेचित हैं, और शेष निम्न पाँच दोषों के नाम ये हैं- अविमृष्टविधेयांश (शब्दगत); विसंधि (वाक्यगत); दुष्क्रम (अर्थगत); पुनः दीप्ति, और अवसर पर प्रथन (रसगत)।

दोषों का स्वरूप

दोषों के स्वरूप-निर्धारण में दास ने मम्मट का अनुकरण किया है। इनकी पद्यबद्ध परिभाषाएँ कहीं अधिक स्पष्ट तथा सरल हैं, और कहीं अस्पष्ट हैं।

निष्कर्ष

चिन्तामणि आदि पाँचों आचार्यों ने अपने-अपने दोष-प्रकरणों में काव्यप्रकाश का आधार ग्रहण किया है। प्रतापसाहि ने कुलपति के ग्रंथ से भी सहायता ली है। चिन्तामणि ने 64, कुलपति ने 58, सोमनाथ ने 19, भिखारीदास ने 67 और प्रतापसाहि ने 71 दोषों का निरूपण किया है। इन सभी आचार्यों के दोष-प्रकरणों में अपनी-अपनी विशिष्टताएँ भी हैं, और अपनी-अपनी त्रुटियाँ भी। चिन्तामणि का यह प्रकरण अधिकांशतः व्यवस्थित और शास्त्रसम्मत है, पर अर्थगत 19 दोषों का नामोल्लेख करते हुए भी उन्होंने केवल 5 दोषों का ही निरूपण किया है। इनका रसदोष-प्रसंग नितांत पूर्ण तथा विशुद्ध नहीं है, तथा दोष-परिहारों को इन्होंने उदाहरणों द्वारा स्पष्ट नहीं किया। कुलपति के प्रकरण में रस-दोष-प्रसंग अशास्त्रीय है। शेष प्रसंग शास्त्र-सम्मत, सुबोध तथा व्यवस्थित है। सोमनाथ का प्रकरण अत्यंत विशुद्ध और सुबोध है, किंतु उसमें विषय-सामग्री अत्यल्प है। दास के प्रकरण में कुछ एक नवीन धारणाएँ उल्लेखनीय हैं।' इनकी विषय-सामग्री पर्याप्त तथा अधिकांशतः शांस्त्रसम्मत है। कतिपय स्थलों में भाषा की असमर्थता के कारण विषय थोड़ा दुर्बोध भी बन गया है। प्रतापसाहि के प्रकरण में संर्वाधिक सामग्री का संकलन है, किंतु भाषा की असमर्थता के कारण इनका लगभग संपूर्ण प्रकरण अस्पष्ट बनकर रह गया है; कतिपय लक्षण और उदाहरण अशुद्ध भी हैं। चिन्तामणि, दास और सोमनाथ के प्रकरणों में एक अन्य सामान्य विशेषता उल्लेखनीय है। इन्होंने दोषों के लक्षणों के लिए संस्कृत के ग्रंथों का आधार लेते हुए भी प्रायः उदाहरणों को हिंदी-रीतिकालीन वातावरण में प्रस्तुत किया है।

10.5 काव्य दोष: नयी दृष्टि

ग्रामत्व दोष: नये प्रश्न

काव्य दोष प्रकरण का ग्रामत्व दोष बड़ा विरोधाभासी काव्य दोष है। किसी कविता में ग्रामीण पद व शब्द आ जाये तो वहां ग्रामत्व दोष स्वीकार किया गया है। भारतीय काव्यशास्त्र का जब दोष प्रकरण विवेचित किया जा रहा था, तब भारत ग्रामीण देश था। भारतीय समाज तब ग्राम जीवन के उल्लास, उत्सव से परिचित था। ग्रामीण जीवन के लोक मुहावरे तब समाज की ऊर्जा के मुख्य हेतु हुआ करते

थे l यानी ग्राम की लोकोक्तियाँ और मुहावरे भारतीय साहित्य की महत्वपूर्ण विशेषता थी l तब साहित्यशास्त्रियों का ग्रामत्व दोष की अवधारणा खोजना क्या उचित है? भारतीय समाज जब नागरीय संस्कृति की ओर उन्मुख होता चला गया तब ग्रामीण शब्दों का साहित्य में आना प्रगतिशीलता का एक उदाहरण समझ लिया गया l भारतीय समाज के इस विरोधाभास को क्या शास्त्र के विरोधाभास के रूप में देखें? जब भारतीय समाज ग्रामीण था तब ग्रामत्व दोष की अवधारणा और जब भारतीय समाज नगरीय समाज की ओर अग्रसर हुआ तब ग्रामीण पदों का स्वीकार! इस प्रश्न पर ठहरकर विचार किया जा सकता है l

काव्य दोष के सन्दर्भ में "रसापकर्षका दोष:" कहकर रस के अपकर्ष करने वाले कारक तत्वों को काव्य दोष कहा गयाl यहाँ तक तो कोई समस्या नहींl फिर शब्द, पद और अर्थ के आधार पर दोष स्वीकार किये गए हैंl अर्थ, पद का दोष तो फिर भी स्वीकार किया जा सकता है, किन्तु शब्द के स्तर पर ग्रामीण शब्दों की उपेक्षा नहीं की जा सकतीl हालांकि पद और अर्थ दोष किसी भी स्तर पर आ सकते हैं, प्रयुक्त हो सकते हैं, उसके लिए ग्रामत्व की अनिवार्यता नहींl

ग्राम्य दोष के मूल में हमारा नागर बोध रहा हैl गवारूँ या देशज शब्द के प्रति हिकारत का भाव नागर मानसिकता का प्रमुख लक्षण हैl पूजीवादी समाज में या नागर समाज में यह बोध या वृत्ति विकसित हो तो कोई आश्चर्य नहीं किन्तु यदि ग्रामीण समाज में यह वृत्ति विकसित हो तो इसे आंतरिक अंतर्विरोध के रूप में लिया जाना चाहिएl

दोष ग्राम्यता के स्तर पर नहीं है अपितु उचित शब्द और पद के प्रयोग के स्तर पर हैl गाँव और देशज वृत्ति का स्वीकार आधुनिक मूल्यों का प्रतिदर्शन हैl एक सामंती समाज में राजा, राज महल की केंद्रीयता में मूल्य निर्धारित हों, स्वाभाविक हैl तब साहित्यिक मूल्यों से ग्राम निर्वासित हो, सहज है l ऐसे में भक्ति कविता ने कविता में ग्रामत्व को प्रतिष्ठित किया, यह अपने में बड़ी बात हैl मानस में ग्राम बधुएं आती हैं, जैसे बिना उनके आये सीता को वन प्रवेश (जीवन संघर्ष) कठिन था l

भक्ति कविता में लोक की प्रत्यक्ष उपस्थिति है l भक्ति कविता में लोक काव्य रूपों का बहुविध चित्रण मिलता हैl फाग, चांचर, सोरठा, सोहर, रास जैसे विधान भक्ति कविता में अपनी मधुरिमा में व्यक्त हुए हैं l निष्कर्ष यह कि सत्ता से दूर कविता में ग्राम संस्कृति अपने समृद्ध रूप में व्याप्त हैl सूर की कविता का समाज ठेठ ग्रामीण है l जायसी की कविता में भले ही राजमहल का वर्णन हो किन्तु जायसी का नागमती वियोग वर्णन में तथा अन्यान्य प्रसंगों में किसानी संस्कृति के बिम्ब, प्रतीक प्रयुक्त हुए हैंl

भक्ति कविता शास्त्र के सामने चुनौती प्रस्तुत करता हैl बड़ी कविता शास्त्र के सामने प्रश्न खड़ा करती हैl हालाँकि वह खुद एक शास्त्र है l अपने को काटना और अतिक्रमण करना बड़े व्यक्तित्व और साहित्य का लक्षण है l रीति कविता जब आती है तब वह शास्त्र को प्रतिष्ठित करती हैl भक्ति कविता के समय काव्य शास्त्र का विकास धीमा पड़ा l विश्वनाथ जैसे बड़े आचार्य भी 14 वीं शताब्दी में आते हैंl यह समय भक्ति कविता का प्रारंभिक दौर है l केशव के माध्यम से जब रीति कविता प्रकट हुई तब वह अपने सैद्धांतिक रूप में ही अस्तित्व ग्रहण करती हैl कवि प्रिया व रसिक प्रिया जैसी कृतियाँ रीति

कविता को शास्त्र और सैद्धांतिक स्वीकृति प्रदान करती हैं। रीति बद्ध कविता तो शास्त्र कविता का प्रति लक्षण है। अनायास नहीं कि रीति कविता में ग्राम तत्वों की उपेक्षा है, हिकारत है ।

ग्रामयता को "काव्य मूल्य" बना देने का श्रेय आधुनिक दृष्टि को है। पंत का रुमानीपन जब यथार्थ की ज़मीन खोज रहा था, तब उन्हें ग्राम्या का बिम्ब मिला। ग्राम्या संग्रह की कवितायेँ ग्राम्य जीवन के विविध चित्र प्रस्तुत करते हैं। प्रगतिवाद में तो ग्रामत्व संस्कृति को प्रगतिशील ही बना दिया गया ।

आँचलिक साहित्य : ग्रामत्व संस्कृति का सौंदर्य

रेणु के मैला आँचल, उनकी कहानियां आदि ग्राम सौंदर्य के प्रतिमान हैं । ग्रामीण संस्कृति यहाँ शब्दों से हटकर संस्कृति का रूप ले लेती है । ग्राम ध्वनियों, संगीत को यहाँ उत्सव के तौर पर देखा गया है। ग्रामत्व तब दोष न रहकर लोक के उत्सव का प्रतीक बन जाता है। यहाँ मुझे विलियम वर्ड्स वर्थ का काव्य भाषा सम्बन्धी सिद्धांत स्मरण हो रहा है। वर्ड्सवर्थ कविता में ग्रामीण शब्दों के प्रयोग का प्रशंसक है । ग्रामीण शब्दों के प्रयोग पर बल स्वच्छन्दतावादी वृत्तियों के अनुकूल है। वर्ड्सवर्थ रोमांटिक धारा का कवि है। रोमानी वृत्ति शास्त्रीय मान्यताओं को चुनौती देता है। उधर पश्चिम में वर्ड्सवर्थ ग्रामीण शब्दों के प्रयोग पर बल दे रहा था तो इधर पंत और रेणु जैसे रोमांटिक साहित्यकार साहित्य में ग्राम तत्व को उत्सव की तरह देख रहे थे । पंत जब रोमानीपन से मुक्त होने का प्रयास कर रहे थे तब ग्राम बाला, ग्राम बधुएं, ग्राम भाषा और ग्राम संस्कृति ही बदले मिजाज का वाहक बनी। रेणु ग्राम तत्व को समूह के तौर पर देखते हैं किन्तु इस शर्त या भूमि के साथ कि रोमानी वृत्ति का सम्बन्ध केवल अमूर्त भाव से ही नहीं, यथार्थ से भी है।

जनवाद के दौर में प्रगतिशीलता एक फैशन रूप में आया। आज अपने को प्रगतिशील कहने /समझने वाला हर कवि ग्रामीण व देशज शब्दों का अनिवार्य रूप से प्रयोग करता है । बड़ी कविता में ग्रामीण शब्द व पद कथ्यगत अनिवार्यता के तहत आएं तब तो ठीक है किन्तु यदि केवल अपने को प्रगतिशील सिद्ध करने की दृष्टि से ग्रामीण शब्दों का प्रयोग किया जाये तो ग्रामत्व संस्कृति उपेक्षित ही होगी । आँचलिक साहित्य ने ग्रामीण तत्वों को कथ्य के अनुसार विकसित किया था ।इस बात को समझें जाने की जरुरत है।

ग्रामत्व दोष : ग्रामत्व दोष आज इतिहास की वस्तु है किन्तु हमारे पाठ्यक्रमों में यह वर्तमान बना हुआ है, इसे बदलने की जरुरत है । हिंदी का बौद्धिक समाज सच्चे अर्थो में ग्रामत्व को धारण करें तो साहित्य का लाभ होगा।

अभ्यास प्रश्न)2

टिप्पणी कीजिये।

1. ग्राम्य दोष

.....

.....

.....

2. रीति कवियों का काव्य दोष

.....

.....

.....

10.6 सारांश

काव्य दोष सम्बन्धी इस 10 वीं इकाई का आपने अध्ययन किया। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि—

- कविता को दोष रहित होना चाहिए। किन्तु कोई भी कविता हो उसमें काव्य दोष किसी न किसी रूप में उपस्थित हो ही जाते हैं। बावजूद काव्य दोष कविता लेखन की दृष्टि से महत्वपूर्ण घटक हैं।
- कविता में अश्लील पदों का प्रयोग न हो, कविता कठिन न हो तथा सुमधुर हो। कविता में कठोर वर्णों का प्रयोग न हो। कविता में ग्राम्य शब्दों का प्रयोग न हो। यह सब निर्दोष कविता के लिए आवश्यक तत्व माने गए हैं। किन्तु कविता में कथ्य की दृष्टि से कवि शब्द व पदों का प्रयोग करता है।
- काव्य दोष प्रकरण पर संस्कृत आचार्यों का मत स्तुतय है।
- काव्य दोष प्रकरण पर रीतिकालीन कवियों ने भी नये ढंग से विचार किया है।
- काव्य दोष प्रकरण पर आधुनिक दृष्टि से भी विचार करने की आवश्यकता है।

10.7 शब्दावली

- निर्दोष – दोष से रहित
- च्युतसंस्कृति – संस्कृति से हीन होने की भाषाई स्थिति
- अर्थदुष्ट – कविता में अर्थ का गलत उपयोग
- कल्पनादुष्ट – कविता में कल्पना शक्ति का गलत उपयोग
- नेयार्थ- अर्थ का अबूझ प्रयोग
- क्लिष्ट – कठिन शब्दों का प्रयोग
- अन्यार्थ- मूल अर्थ से इतर का अर्थ बताने वाला शब्द
- असाधु- अनुचित

- ग्राम्य दोष – कविता में ग्राम्य शब्दों का अनुचित प्रयोग
- अपक्रम दोष- पदों का बेतरतीब प्रयोग

10.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास प्रश्न 1

1. सही
2. सही
3. सही
4. गलत
5. गलत

10.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिंदी रीति परम्परा के प्रमुख आचार्य – डॉ सत्यदेव चौधरी
2. काव्यालंकारसूत्र वृत्ति – आचार्य वामन

10.10 सहायक/उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. भारतीय काव्य विमर्श – राममूर्ति त्रिपाठी

10.11 निबंधात्मक प्रश्न

1. रीतिकालीन आचार्यों द्वारा निरुपित काव्य दोष पर निबंध लिखिए।

इकाई-11-शब्द शक्ति

इकाई की रुपरेखा

11.1प्रस्तावना
11.2 उद्देश्य
11.3 शब्द शक्ति: परिचय
    11.3.1 अभिधा
    11.3.2 लक्षणा
    11.3.3 व्यंजना
    11.3.4 तात्पर्या
11.4 शब्द शक्तिओं का आपसी सम्बन्ध
11.5 शब्द शक्ति और साहित्य
11.6 शब्द शक्तिओं की महत्ता
11.6 सारांश
11.7 शब्दावली
11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची
11.10 सहायक /उपयोगी पाठ्य सामग्री
11.11 निबंधात्मक प्रश्न

11.1 प्रस्तावना

शब्द शक्ति का तात्पर्य शब्द के अंतर्निहित व्यापार से है। जब हम शब्दार्थो सहितो काव्यम या रमणी शब्द की बात करते हैं तो हम यह समझ रहे होते हैं कि शब्द केवल ध्वनियों का समुचच्य नहीं है। शब्द की अपनी आंतरिक सत्ता है, लेकिन इस सत्ता को शब्द शक्तियां नियंत्रित करती हैं। भारतीय काव्य शास्त्र में इसे शब्द शक्ति कहा गया है। शब्द में मिहित आंतरिक शक्ति और उसका व्यवहार शब्द शक्ति के अंतर्गत आता है। मनुष्य के भावगत क्रिया -कलापों का आधार भाषा है।भाषा संकेत और संकेतक से संचालित होती है। हमारे मस्तिष्क में किसी भी वस्तु, पदार्थ का ज्ञान संकेत, संकेतक और सांकेतिक से पुष्ट होता है। हम किसी जानवर का नाम सुनकर किसी ख़ास बिम्ब की ओर ही क्यों जाते हैं, इसका उत्तर भाषा विज्ञान और शब्द शक्ति देती है।

11.2 उद्देश्य

काव्यांग विवेचन पुस्तक की यह 11 वीं इकाई है। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात् आप—

- कविता की आंतरिक शक्ति से परिचित हो सकेंगे।
- शब्द शक्ति की परिभाषा व अर्थ को जान सकेंगे।
- शब्द शक्ति के भेदों को जान सकेंगे।
- शब्द शक्ति के नए रूपों से परिचित हो सकेंगे।
- शब्द शक्ति के महत्त्व को समझ सकेंगे।

11.3 शब्द शक्ति: परिचय

शब्द को हमारे यहाँ ब्रह्म कहा गया। क्योंकि मनुष्य का कार्य व्यापार सार्थक ध्वनियों व शब्दों से चलता है। वाक्य पदीयम नामक ग्रन्थ में शब्द को 'ब्रह्म' ही कहा गया है। कारण यह कि शब्द की सत्ता हमेशा वर्तमान रहती है। यहाँ शब्द व्याकरण का आधार लेता है। व्याकरण का 'स्फोट सिद्धांत' शब्द की सत्ता को नित्य या हमेशा वर्तमान मानता है। अक्षर का भी यही अर्थ है कि जिसका कभी क्षय न हो। अर्थ यह कि शब्द अपने विशेष अर्थ में विशिष्ट होते हैं । शब्द के सार्थक व अर्थबोधक व्यापार के कारणों व उसके आधार को शब्द शक्ति कहा गया है। इसके तीन भेद माने गए हैं । अभिधा, लक्षणा, व्यंजना तथा तात्पर्या शक्ति । काव्यशास्त्र में जिन शब्द शक्तियों का अध्ययन किया जाता है, वे शब्द को विशिष्ट अर्थ में देखती हैं। कविता कभी भी सामान्य शब्दों का प्रयोग नहीं करती। कविता सामान्य शब्द को भी विशिष्ट बनाती है। कविता विशिष्ट पदावली है। वह सार्थक शब्दों का समुचच्य है। लेकिन इस सार्थकता को मुख्यतः शब्द शक्तियां धारण करती हैं। यहाँ हम संक्षेप में शब्द शक्तियों के बारे में अध्ययन करेंगे।

11.3.1 अभिधा शक्ति

अभिधा को मुख्यार्थ भी कहते हैं। भाषा के जिस रूप से मुख्य अर्थ या वाचक अर्थ का बोध हो उसे अभिधा शब्द शक्ति कहते हैं। अभिधा शब्द शक्ति में अर्थ के प्रचलित अर्थ को ग्रहण किया जाता है। मुख्य अर्थ को बताने के कारण इसे मुख्यार्थ भी कहा गया है। जैसे हम गाय शब्द का प्रयोग करते हैँ तो हमारे सामने एक चौपाया जानवर का बिम्ब ही आता है और हम गाय को गाय के अर्थ में ही ग्रहण करते हैं। यह मुख्यार्थ हुआ। अभिधा सारे शब्द शक्तियों का आधार है। बिना अभिधा के अन्य शब्द शक्ति नहीं हो सकतीं।

अभिधा मुख्यतः एकार्थक होती है। हम जो बोल रहे हैं या लिख रहे हैं या जो पढ़ रहे हैं... उसे हम एक ही अर्थ में ग्रहण करेंगे, तभी अभिधा है। आचार्य भिखारीदास ने 'काव्यनिर्णय' में अभिधा का लक्षण बताते हुए लिखा है, 'अनेकार्थ शब्द में क अर्थ की व्यक्ति/ जेहि वाच्या को कहें सज्जन अभिधाशक्ति' । कहा है। अर्थ यह कि शब्द की अभिधा शक्ति स्थिर होती - जैसे 'पुस्तक' शब्द का अर्थ लिखने का एक निश्चित प्रयोजन है। जब अर्थ वाच्यार्थ हो तब उसे अभिधा कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने अभिधा को मुख्य शब्द शक्ति माना है। भट्टनायक अभिधा को केंद्रीय शक्ति मानते हैं, क्योंकि यह अर्थ और रस का मूल आधार है। कवि देव ने भी इस बारे में लिखा है, 'अभिधा उत्तम काव्य है मध्य लक्षणालीन ।/ अधम व्यंजना रस रस, उल्टी कहत नवीन ।।' अर्थ यह कि देव की दृष्टि में भी अभिधा मुख्य शब्द शक्ति है।

11.3.2 लक्षणा शब्द शक्ति

जब कोई शब्द मुख्यार्थ या वाच्यार्थ की सीमा का अरिक्रमण कर किसी अन्य अर्थ को बताने लगें तब हम उसे लक्षणा शब्द शक्ति कहते हैं। जब शब्द अपने मूल अर्थ को छोड़ कर किसी ख़ास लक्ष्य को संकेत करने लगते हैं, तब वहां लक्षणा शब्द शक्ति होती है। लक्षणा को इसीलिए लक्षयार्थ भी कहते हैं। काव्य शास्त्रियों ने लक्षणा को समझने के लिए चार सूत्र दिए हैं - 1. मुख्यार्थ में बाधा, 2. परम्परागात अर्थ का अतिक्रमण, 3. अभिधा से अलग होकर भी लक्षणा उससे गहरे जुड़ी रहती है।, 4. लक्षणा की भिन्नता में इसका प्रयोजन या ख़ास अर्थ सम्मिलित होता है। लक्षणा को यहाँ हम कुछ उदाहरण के माध्यम से समझ सकते हैं। जब हम किसी को गधा कह देते हैं तो हम जानते हैं कि अगला व्यक्ति जानवर नहीं है, अपितु मनुष्य है, किन्तु हम तब भी गधा शब्द का प्रयोग करते hain; क्यों? क्योंकि हम शब्द शक्ति से कुछ विशेष अर्थ ग्रहण करना चाहते हैं। गधा सीधेपन की अतिशयता में मूर्ख या बेवकूफ के अर्थ में रूढ़ हो चुका है। इसलिए जब किसी को बेवकूफ कहना होता है तो हम गधा कह देते हैं। इसी प्रकार किसी को वीर कहने के लिए हम शेर कह देते हैं, क्योंकि शेर साहस के लिए रूढ़ हो चुका है। जब अर्थ में बाधा पहुंचे तब लक्षणा शब्द शक्ति द्वारा अर्थ निकाला जाता है। किन्तु लक्षणा स्वयं रूढ़ अर्थ को व्यक्त करती है। इस पूरी प्रक्रिया में अभिधा पर आधारित होती हुई भी, लक्षणा शब्द शक्ति विशिष्ट हो जाती है।

11.3.3 व्यंजना शब्द शक्ति

जब किसी शब्द का अर्थ अभिधा तथा लक्षणा शब्द शक्ति से न निकाला जाए तब वहां व्यंजना शब्द शक्ति होती है। व्यंजना शब्द के गूढ़ तथा विशिष्ट अर्थ को व्यक्त करती है। व्यंजना का आधार व्याकरण का स्फोट सिद्धांत रहा है।

जब किसी अर्थ को स्पष्ट करने में अभिधा तथा लक्षणा दोनों शब्द शक्तियां चूक जाती हैं, तब व्यंजना शब्द शक्ति का प्रयोग किया जाता है। इस प्रकार व्यंजना शब्द शक्ति विशिष्ट अर्थ की बोधक है। व्यंजना को व्यंग्यार्थ भी कहा गया है। इसे प्रतीयमान भी कहते हैं। व्यंजना शब्द शक्ति को गंगाया घोष: के प्रचलित उदाहरण द्वारा समझाया गया है। गंगा में गाँव है। अभिधा से यदि इसका अर्थ निकालना चाहें तो यह संभव नहीं क्योंकि गंगा में किसी गाँव की स्थिति सम्भव नहीं। अत: यहाँ अभिधा शब्द शक्ति से हम अर्थ तक नहीं पहुँच सकते।

लक्षण। शब्द शक्ति से हम गंगा के समीप अर्थ तक ही पहुँच सकते हैं। लेकिन कथन के विशिष्ट अर्थ के लिए व्यंजना के पास ही हमें जाना पड़ेगा। गंगा के समान पवित्र गाँव या घर का अर्थ व्यंजना शब्द शक्ति द्वारा ही निकलेगा। अर्थ हुआ कि व्यंजना शब्द शक्ति तब प्रकट होती है, जब लक्षयार्थ व मुख्यार्थ से अलग किसी अन्य अर्थ की प्राप्ति हो। व्यंजना में कहा तो कुछ जाता है किन्तु उसका अर्थ कुछ और निकलता है तब वहां व्यंजना शब्द शक्ति होती है।

व्यंजना के दो मुख्य भेद हैं : (1) शाब्दी, इसमें शब्द के कारण चमत्कार होता है तथा आर्थी, इसमें अर्थ की प्रधानता होती है और चमत्कार पैदा होता है। शाब्दी व्यंजना के दो भेद अभिधामूला तथा लक्षणामूला किए गए हैं। आर्थी व्यंजना के अर्थबोध कराने की क्षमताओं के आधार पर दस उपभेद किये

गए हैं : (i) वक्ता-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना (वक्ता की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ बोध), (ii) बोधव्यक वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना (श्रोता की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ बोध), (iii) काकु-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना (कंठ की विशेष या ध्वनि के कारण व्यंग्यार्थ बोध), (iv) वाच्य-वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना (पूरे कथन के कारण व्यंग्यार्थ बोध), (v) वाच्य-वैशिष्टय आर्थी व्यंजना (अन्य या विपरीत की सन्निधि या समीपता के कारण व्यंग्यार्थ बोध), (vi) प्रस्ताव वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना (प्रस्ताव या प्रकरण के कारण व्यंग्यार्थ बोध) (vii) देश वैशिष्टय आर्थी व्यंजना (देश की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ बोध), (viii) काल वैशिष्टय आर्थी व्यंजना (काल या समय की विशेषता के कारण व्यंग्यार्थ बोध) तथा (ix) चेष्टा वैशिष्ट्य आर्थी व्यंजना (चेष्टा, हावभाव या संकेत की विशेषता के कारण उत्पन्न अर्थबोध)।

11.3.4 तात्पर्याशक्ति

अधिकतर विद्वान अभिया, लक्षणा तथा व्यंजना तीन ही शब्दशक्तियों को मानते हैं। कुमारिल भट्ट जैसे मीमांसा के आचार्य तात्पर्या नामक एक और शब्दशक्ति की बात करते हैं। उनका मानना है कि पूरे वाक्य के अर्थ की प्रतीति अभिधा, लक्षणा तथा व्यंजना शब्दशक्तियों से संभव नहीं होती। इसलिए उसके अर्थ को जानने के लिए एक अन्य शक्ति की आवश्यकता होती है, जिसे वे तात्पर्याशक्ति कहते

हैं। इसमें आकांक्षा, योग्यता तथा आसक्ति के सहयोग से वाक्यार्थ प्रकट होता है। सरल शब्दों में, जब वाक्य के हर एक पद का बड अभिधाशक्ति द्वारा वाच्यार्थ पता लगाने के बाद जिस वृत्ति के द्वारा उन पदों के अन्वित अर्थ या तात्पर्य का पता चलता है, उसे तात्पर्य वृत्ति कहते हैं।

अभ्यास प्रश्न)1

सही/ गलत का चुनाव कीजिये

1. वाक्य पदीयम के रचनाकार भर्तृहरि हैं।
2. स्फोट सिद्धांत का सम्बन्ध व्याकरण से रहा है।
3. अभिधा को मुख्यार्थ भी कहते हैं।
4. काव्यनिर्णय ग्रन्थ के रचयिता केशवदास हैं।
5. भट्टनायक ने अभिधा को मुख्य शक्ति माना है।

11.4 शब्द शक्तियों का आपसी सम्बन्ध

अभिधा, लक्षणा और व्यंजना जैसी शब्द शक्तियां परस्पर अलग दिखती हुई भी एक-दूसरे से गहरे जुड़ी हुई हैं। अभिधा सारी शब्द शक्तियों के मूल में है। यदि वाच्यार्थ न हो तो लक्ष्यार्थ और व्यंग्यार्थ कैसे? लेकिन ध्वनि सिद्धांत की स्थापना के पश्चात व्यंग को साहित्य का मूल मान लिया गया या ऐसी प्रतिष्ठा बहुत बाद तक बनी रही। परिणाम यह रहा कि अभिधा शब्द शक्ति उपेक्षित रही। बहुत बाद में आचार्य देव ने अभिधा शब्द शक्ति को सारी शब्द शक्तियों में मूल शब्द शक्ति माना। लेकिन यह प्रश्न गौण है कि अभिधा, लक्षणा और व्यंजना यह कि तात्पर्या शब्द शक्ति में महत्वपूर्ण शब्द शक्ति कौन है? महत्वपूर्ण बात यह है कि सारी शब्द शक्तियां एक -दूसरे से गहरे जुड़ी हुई हैं। अभिधा न हो तो आगे शब्द शक्तियों का व्यापार किस प्रकार संपन्न हो? लेकिन समझने वाली बात है कि एक शब्द शक्ति दूसरी शब्द शक्ति का अतिक्रमण करती है। लक्षणा के लिए मुख्यार्थ से बाधा भी जरुरी है लेकिन मुख्यार्थ भी आवश्यक है। इसी प्रकार व्यंजना शब्द शक्ति प्रतीयमान पर आधारित है, किन्तु अन्य अर्थ तक जाने के लिए अभिधा और लक्षणा की सत्ता भी आवश्यक है। इस प्रकार शब्द शक्तियों की सत्ता एक-दूसरे के विरोध से नहीं बल्कि एक-दूसरे के सहयोग से चलती है।

11.5 शब्द शक्ति और साहित्य

प्रश्न है कि साहित्य के लिए शब्द शक्तियों की अपनी कोई भूमिका है या नहीं? और यदि है तो किस प्रकार की? एक कविता या किसी कहानी में कई तत्व मिलकर उसे एक संरचना प्रदान करते हैं। कभी कविता अपने अलंकार से महत्वपूर्ण बन जाती है तो कभी अपने काव्य गुणों से...। कभी कविता व्यंजना से महत्वपूर्ण होती है तो कभी कथ्य से या कभी शिल्प या भाषा से....। कविता अपने आप में कोई अकेली इकाई नहीं है, बल्कि कई इकाईयों से मिलकर उसकी अन्वीति बनती है। सम्पूर्ण कथ्य

अभिधा जनित है। लक्षणा अलंकार हैं तथा कविता की व्यंजना शक्ति उसका रस ही है। इसलिए शब्द शक्तियों को हमने कविता की आंतरिक शक्ति कहा है।

साहित्य का सौंदर्य उसके कथ्य के नयेपन से बनता है। लेकिन यह आधार की भूमिका निभाते हैं। कथ्य का ट्रीटमेंट किस प्रकार से आ रहा है और अंतिम रूप में कोई कविता पाठक को कहाँ ले जा रही है, इस बात से कविता की संरचना पूर्ण होती है।

अभ्यास प्रश्न)2

रिक्त स्थान की पूर्ति कीजिये।

1. **अभिधा उत्तम काव्य है, यह कथन .....देव का है।**
2. **लक्षणा को ..... भी कहते हैं।**
3. **रूढ़ अर्थ को व्यक्त करने में ..... शब्द शक्ति सहायक होती है।**
4. **व्यंजना को .....भी कहते हैं।**
5. **प्रतीयमान ..... को ही कहते हैं।**

11.6 सारांश

शब्द शक्ति नामक इस इकाई का आपने अध्ययन किया। इस इकाई के अध्ययन के पश्चात आपने जाना कि—

- शब्द शक्ति का अर्थ साहित्य की आंतरिक शक्ति होती है ।
- शब्द शक्ति के मुख्यतः तीन प्रकार होते हैं -अभिधा, लक्षणा और व्यंजना । कुछ आचार्यों ने चौथी शब्द शक्ति भी स्वीकार की है।
- अभिधा शब्द शक्ति को वाच्यार्थ कहते हैं । इसे कथ्य के रूप में भी समझा जा सकता है।
- लक्षणा शब्द शक्ति किसी विशेष प्रयोजन से प्रयुक्त होती है। इसे कविता के सौंदर्य या विशेष अर्थ के रूप में ग्रहण किया जा सकता है ।
- व्यंजना शब्द शक्ति कथ्य के मूल या अन्य विशेष अर्थ के रूप में समझी जा सकती है। इसे रस के पर्याय रूप में भी समझा जा सकता है।
- शब्द शक्ति पर विचार करते हुए हमने यह भी अध्ययन किया की कि कविता की अपनी संरचना में शब्द शक्ति के अतिरिक्त भी अन्य तत्व सक्रिय होते हैं।

11.7 शब्दावली

- सार्थक ध्वनि-
- क्षय-

- अर्थबोध –
- एकार्थक-

11.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

1) 1. सही 2. सही 3. सही 4. गलत 5. सही
2) 1. देव 2. लक्ष्यार्थ 3. लक्षणा 4. व्यंग्यार्थ 5. व्यंजना

11.9 सन्दर्भ ग्रन्थ सूची

1. हिंदी आलोचना के बीज शब्द- बच्चन सिंह

11.10 सहायक उपयोगी पाठ्य सामग्री

1. हिंदी आलोचना की पारिभाषिक शब्दावली- डॉ अमरनाथ
2. वृहत हिंदी साहित्य कोश- संपादक शम्भुनाथ

11.11निबंधात्मक प्रश्न

1. शब्द शक्ति पर निबंध लिखें।

इकाई 12 बिंब, प्रतीक एवं मिथक

12.1 प्रस्तावना
12.2 उद्देश्य
12.3 बिंब
12.4 प्रतीक
12.5 मिथक
12.6 सारांश
12.7 शब्दावली
12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर
12.9 उपयोगी पाठ्य सामग्री
12.10 निबंधात्मक प्रश्न

12.1 प्रस्तावना

भाषा में **बिंब:** हिंदी में "छवि" या "दृश्य" के लिए संदर्भित है। यह किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, आदि के चित्रांकन को संकेतित करता है। उदाहरण के लिए, एक पुरानी इमारत का बिंब उसकी महानता को दर्शाएगा। बिंब को अंग्रेजी में "image" कहते हैं और यह भी व्यापक रूप से दृश्य या चित्र को संकेतित करता है। यह शब्द भाषा, साहित्य, कला, और दृश्य कला के विभिन्न संदर्भों में प्रयोग किया जाता है। **प्रतीक (Symbol)** प्रतीक एक वस्तु, चिह्न, या चित्र होता है जो किसी अबस्था, वस्तु, या विचार का प्रतिनिधित्व करता है। यह व्यक्ति, समाज, संस्कृति आदि के संदेश को संकेतित कर सकता है। उदाहरण के लिए, राष्ट्रीय ध्वज एक राष्ट्र का प्रतीक होता है। साहित्य में, शिक्षा में, धर्म में, और कला में भी प्रतीक का उपयोग होता है। यह भावनाओं, विचारों, और विशेषताओं को स्पष्ट करने में मदद कर सकता है। अंग्रेजी में इसे Symbol कहते है। सिम्बल भी प्रतीक के समान है, लेकिन इसे विशेष रूप से किसी विशिष्ट संदेश का प्रतिनिधित्व करने के लिए प्रयोग किया जाता है। यह विभिन्न सांस्कृतिक, धार्मिक, या राष्ट्रीय सम्बंधों को दर्शाने का काम कर सकता है। सिम्बल का उपयोग संस्कृति, लोकतंत्र, धर्म, और राजनीति में होता है। यह विभिन्न व्यक्तियों, समूहों, या विशेषताओं के लिए पहचान का माध्यम बन सकता है। मिथक' शब्द अंग्रेजी के ' मिथ' (Myth) शब्द से गढ़ लिया गया है और उसका हिंदी प्रतिरूप बन गया है। 'मिथ' शब्द का उद्भव यूना नी शब्द 'मिथॉस' (Mythos) से हुआ है, जिसका अर्थ है 'मुँह से निकला हुआ'। अतः उसका संबंध 'मौखिक कथा' से जुड़ गया क्योंकि कथा भी सुनी सुनायी जाती थी। हिंदी में 'मिथक' के लिये 'पुरावृत्त', 'पुराकथा' 'कल्पकथा', 'देवकथा', 'धर्मकथा', 'पुराणकथा', 'पुराख्यान' आदि अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। स्पष्ट है कि इनसे 'मिथ' के पूरे अर्थ का सम्प्रेषण नहीं हो पाता। इन प्रतिशब्दों में या तो अव्याप्ति दोष है या अतिव्याप्ति। इसलिए हिंदी में भी 'मिथक' शब्द का प्रयोग ही समीचीन है। सहित्य में **मिथक** एक महत्वपूर्ण और रोमांचक तत्व होता है। यह कहानियां और कथाएँ अक्सर पौराणिक, ऐतिहासिक, धार्मिक या लोकतांत्रिक स्थितियों के चारों ओर घूमती हैं। सहित्य में मिथकों का उपयोग कई तरीकों से होता है। **कथा और कहानी**: कई लेखक और कवियों ने अपनी कहानियों में प्राचीन विचारधाराओं के मिथकों का उपयोग किया है। ये कहानियां अक्सर दिव्य और रहस्यमयी अद्वितीयताओं को उजागर करती हैं। **चरित्र और व्यक्तित्व**: कई लेखक अपने चरित्रों को पौराणिक या मिथकीय पुरानों के साथ जोड़ते हैं, जिससे उनके व्यक्तित्व और कहानी का महत्वपूर्ण हिस्सा बनता है। **प्रतिभागिता और प्रेरणा**: मिथकों के कई घटनाक्रम और चरित्र लेखकों को बड़े और उपयुक्त संदेश देने में मदद करते हैं, जैसे कि धर्म, समाज, और प्रेम जैसे विषयों पर।

उद्देश्य

- विद्यार्थी बिंब के बारे में जान सकेंगे

- विद्यार्थी प्रतीक के बारे में जान सकेंगे
- विद्यार्थी मिथक के बारे में जान सकेंगे
- साथ ही साहित्य में बिंब के प्रयोगों प्रतीकों के प्रयोगों और मिथक के प्रभावों को समझ सकेंगे

12.3 बिंब

'बिब' अंग्रेजी के 'इमेज' (Image) शब्द का हिंदी रूपांतरण है। इसका अर्थ है किसी पदार्थ को मूर्त रूप प्रदान करना, चित्रबद्ध करना अथवा मानसी प्रतिकृति उतारना। 'बिंब' एक प्रकार का भावगर्भित शब्द-चित्र है जो सिर्फ हमारी चक्षु-इंद्रिय को ही तृप्त नहीं करता, अन्य इंद्रियों की भूख भी मिटाता है। भाव जगाना उसका प्रमुख कार्य है। बिंब को परिभाषित करते हुए डॉ. नगेंद्र ने लिखा हैं**, 'काव्य-बिंब निर्मित ए शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।"** कालरिज (Samuel Taylor Coleridge) ने कहा है, **"They become proofs of original genius only as far as they are modified by a predominant passion"**. अर्थात् बिंब शब्दों में बुना वह चित्र है जो कवि के तीव्र भावावेश को पाठक तक संप्रेषित करता है। सी.डी. लेविस (C.D. Lewis) ने कम से शब्दों में बिंब की सुंदर परिभाषा दी है। क उसके शब्दों में "Image is a picture made of words." (बिंब, शब्दों से निर्मित आकृति है।) and that, "A Poem may itself be an image composed from a multiplicity of images." अर्थात् एक कविता स्वयं कई बिंबों द्वारा ब निर्मित एक बिंब हो सकती है। बिंब को परिभाषित करते हुए केदारनाथ की सिंह लिखते हैं- "काव्यगत बिंब वह शब्द-चित्र हैं, जो ऐंद्रिय गुणों से अनिवार्य रूप से समन्वित होता है।" फिर वे लिखते हैं," पर यह परिभाषा भी पूर्ण न हुई क्योंकि कभी-कभी पत्रकार भी किसी समाचार को ऐसे संवेदनात्मक रूप में वि प्रस्तुत करते हैं कि उनमें ऐंद्रिय गुणों का समावेश हो जाता है। कुछ आलोचकों ने युंग-मनोविज्ञान के आधार पर बिंब-विधान की प्रक्रिया को 'सामूहिक अवचेतन' (कलेक्टिव अन्कॉन्शस्) के स्तर पर है देखने का प्रयास किया है। तात्पर्य यह है कि नयी समीक्षा में 'बिंब' स्थूल शब्द-चित्र मात्र का है बोधक न रहकर, मनुष्य की संपूर्ण जटिल मानसिक प्रक्रिया का बोधक बन गया है। उसका क्षेत्र अलंकार विधान के समान केवल काव्य स तक सीमित नहीं है। उसकी स्थिति काव्य के अतिरिक्त संगीत, चित्रकला और मूर्तिकला वि इत्यादि में भी मानी जाती है। इस प्रकार उसका वि क्षेत्र बहुत व्यापक हो गया है।" रामचंद्र शुक्ल के अनुसार बिंब योजना स विभाव के अंतर्गत होती है, चित्रण उसका मुख्य धर्म है। इसकी दूसरी विशेषता है संश्लिष्ट रूप विधान। बिंब व्यक्ति या

विशेष का होगा, सामान्य या जाति का नहीं। कविता का कार्य बिंब ग्रहण प्र कराना होता है, अर्थग्रहण नहीं।उन्होंने लिखा है है, "काव्य का काम कल्पना में बिंब (इमेज) या मूर्तभावना उपस्थित करना है, बुद्धि के सामने - कोई विचार (कांसेप्ट) लाना नहीं।" बिंब-निर्माण में पहली स्थिति है कवि और - वर्ण्य-वस्तु का तदाकार हो जाना। सी.डी. लेविस ने लिखा है, "The identification of the poet with object which appeal to his senses is the initial step in image making". इस तादात्म्य के लिए कवि में वस्तुनिष्ठता, ऐंद्रिय बोध और भावोद्रेक के साथ-साथ कल्पना- शक्ति का होना आवश्यक है। सादृश्य तथा तुलना के तत्त्व, बिंब-विधान के लिए महत्वपूर्ण हैं, पर यह अनिवार्य नहीं कि वस्तुगत, मूर्त या स्थूल की तुलना वस्तुगत, मूर्त अथवा स्थूल से ही की जाए। इनका विपर्यय भी हो सकता है- श्रेष्ठ बिंबों के द्वारा मूर्त को भावरूप और भाव को मूर्तरूप दिया जाता है। बिंब की सफलता सहृदय में उद्बुद्ध करने की क्षमता पर निर्भर करती है। इसके लिए कवि उन्हें चित्र-धर्मी तो बनाता ही संवेदनों को है, अपने हृदय के रस और संवेग से आप्लावित कर देता है। बिंब का ऐंद्रिय संवेद्य होना अनिवार्य है, क्योंकि इसके अभाव में उसका रचनात्मक होना संभव नहीं है। बिंब-विधान के लिए कल्पना आवश्यक है। वह दो कार्य करती है-पहले स्मृति के क्रोड़ में सोते हुए बिंबों को प्रत्यक्षोपलब्ध अनुभूतियों के स्पर्श से जगाती है और फिर उन बिंबों को शिल्प के सांचे में ढालती है, अतः बिंब-विधान के आवश्यक तत्त्व हुए-वस्तुनिष्ठता, ऐंद्रियबोध, भावोद्रेक, स्मृति, कल्पनाशक्ति, संवेग-संकुलता एवं भाषा पर अधिकार। प्रभावों की इंद्रियगम्य प्रतिकृति होने के कारण बिंब में दृश्य-कलाओं-स्थापत्य, मूर्ति-कला और चित्रकला के तत्त्व अधिक रहते हैं क्योंकि बिंब प्रायः दृश्य होते हैं तथा उनका संबंध रूप और आकार से अनिवार्यतः रहता है। अर्थात् बिंब को भावपूर्ण युक्तियों और काव्य रूप के अनुकूल होना चाहिए। उदाहरणार्थ, व्यापक उपमाएं महाकाव्य के आख्यानपरक रूप के अनुकूल तो होती हैं किन्तु लघुगीतों के नहीं। बिंब निर्माण प्रक्रिया का विश्लेषण करते हुए आचार्य रामचंद्र शुक्ल ने रूप विधान की चर्चा की है। रूपविधान तीन प्रकार के होते हैं- प्रत्यक्ष रूपविधान, स्मृत रूपविधान और कल्पित रूपविधान। कल्पित रूपविधान ही काव्य प्रक्रिया के अंतर्गत आता है लेकिन पहले के दोनों रूपविधान इसके आधार हैं। इसका सीधा अर्थ है कि बिंब का संबंध केवल नवीन संवेद्य अर्थवत्ता से ही न होकर पूरी काव्य संरचना से होता है। बिंबों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है-अभिव्यंजना-पद्धति की दृष्टि से, स्वरूप की दृष्टि से, ग्राह्येंद्रिय के आधार पर, प्रेरक अनुभूति के आधार पर और अर्थ की दृष्टि से। बिंब का वर्गीकरण कई दृष्टियों में किया गया है।

(क) ऐंद्रिय आधार पर

1. दृश्य या चाक्षुष बिंब-दृश्य बिंब आकार वाले होते हैं। इनका स्वरूप अत्यंत स्पष्ट होता है। काव्य में दृश्य बिंबों का प्रयोग अधिक मात्रा में होता है। सादृश्य मूलक अलंकारों में इन बिंबों का विशेष महत्व रहता है।

2. श्रव्य बिंब ऐसे बिंबों का ग्रहण कर्णेंद्रिय के द्वारा होता है। वर्णध्वनि, छंद, लय, तुक आदि श्रव्य बिंब के अंतर्गत आते हैं।

3. स्पृश्य बिंब-इस कोटि के बिंब में स्पर्शजन्य संवेदनाओं का निर्माण होता है। कोमल, कठोर, कर्कश आदि विशेषण इसी प्रकार के स्पर्श बिंबों के वाचक हैं।

4. गंध बिंब-इस प्रकार के बिंब काव्य रचना में कम दिखायी देते हैं। अंग्रेजी कवि कीट्स और हिंदी के बिहारी जैसे कवियों में इस कोटि के बिंब दिखायी देते हैं। ये बिंब गंध के प्रतीक पुष्प आदि के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं।

5. स्वाद बिंब-आस्वाद परक बिंब, गंध बिंबों की अपेक्षा काव्य में अधिक दिखायी देते हैं। 'मीठी लगें अंखियान लुनाई' जैसे प्रयोग इसके उदाहरण हैं।

(ख) सर्जक कल्पना के आधार पर

1. स्मृत बिंब-कल्पना के निष्क्रिय हो जाने पर जब स्मृति के द्वारा बिंब की उद्भावना होती है तो उसे स्मृत बिंब कहते हैं। ऐसे बिंब अतीत के अनुभवों पर आधारित होते हैं।

2. कल्पित बिंब-सक्रिय कल्पना में प्रयुक्त होनेवाले कवि प्रौढ़ोक्ति सिद्ध बिंब कल्पित बिंब कहलाते हैं।

(ग) प्रेरक अनुभूतिपरक बिंब

1. सरल बिंब-सरल अनुभूतियों से प्रेरित बिंब सरल बिंब कहलाते हैं। 'लज्जा ने घुंघट डाला' सरल बिंब का उदाहरण है।

2. मिश्र बिंब-मिश्र अनुभूति का बिंब मिश्र (बिंब कहलाता है। 'लाली बन सरस कपोलों में आंखों में अंजन सी लगती' मिश्र बिंब का उदाहरण है।

3. जटिल बिंब-जटिल अनुभूति का बिंब जटिल बिंब कहलाता है। जैसे 'कोमल किसलय के अंचल में नन्ही कलिका ज्यों छिपती सी।'

4. पूर्ण या समाकलित बिंब-पूर्ण अथवा समाकलित बिंब समाकलित अनुभूति की सृष्टि करता है। निराला की 'सम की शक्ति पूजा' और पंत की 'परिवर्तन' कविता में समाकलित बिंब का प्रयोग हुआ है।

(घ) काव्यार्थ की दृष्टि से

1. इसके अंतर्गत एकल और संश्लिष्ट बिंब आते हैं-

1. एकल बिंब-ऐसे बिंब अपने में स्वतंत्र और अन्य बिंबों के पूर्वापर संबंधों से मुक्त होते हैं, जैसे- 'व्योम से उतर रही चुपचाप
   छिपी निज छाया छवि में आप'
   2. संश्लिष्ट बिंब-इस कोटि के बिंब में अनेक बिंब परस्पर संबद्ध रहते हैं। पंत की कविता 'नौका विहार' में संश्लिष्ट बिंबों का प्रयोग उल्लेखनीय है।

(ड़) काव्य दृष्टिपरक बिंब

इसके अंतर्गत वस्तुपरक और स्वच्छंद बिंब आते हैं। वस्तुपरक बिंबों में यथार्थ चित्र खींचे जाते हैं जबकि स्वच्छंद बिंबों में कल्पना और सौंदर्य के चित्रों का महत्व होता है।

कार्ल, युंग ने आदि-बिंब की भी चर्चा की है। उसके अनुसार इनका संबंध मनुष्य के चिंतन और संवेदन से है। ये बिंब रिक्थ-क्रम से की पीढ़ी-दर-पीढ़ी परिवार और समाज के दीर्घ डी आनुवंशिक संस्कारों से लिप्त होकर चले आते हैं। ये बड़े सशक्त होते हैं और हमारी सुप्त सांस्कृतिक वासनाओं को उभारने में बहुत समर्थ होते हैं। इनसे तादात्म्य सहज ही हो जाता है क्योंकि ये सामूहिक अवचेतन से निर्मित हुए ब होते हैं। ये मूलतः जातीय अनुभूति, राष्ट्र की सांस्कृतिक-वासना से निर्मित होते हैं। उदाहरण व के लिए, मर्यादापालन की दृष्टि से राम, रसिकता न की दृष्टि से कृष्ण, वीरता की दृष्टि से अभिमन्यु, शारीरिक बल की दृष्टि से भीम, त्याग-बलिदान की दृष्टि से दधीचि आदि ऐसे ही आदि-बिंब हैं।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न . 'काव्य-बिंब निर्मित ए शब्दार्थ के माध्यम से कल्पना द्वारा निर्मित एक ऐसी मानस-छवि है जिसके मूल में भाव की प्रेरणा रहती है।" यह कथन है

क. रामचन्द्र शुक्ल
ख. डॉ० नगेन्द्र
ग. मुक्ति बोध
घ. इसमें से कोई नहीं

प्रश्न . "Image is a picture made of words." **यह कथन किसका है**

क. C.D. Lewis
ख. Coleridge
ग. दोनों ने

घ. उपरोक्त में से कोई नहीं

12.4 प्रतीक

प्रतीक का शाब्दिक अर्थ 'चिह्न' है। यह अंग्रेजी के 'सिंबल' (symbol) शब्द के पर्याय के रूप में प्रयुक्त होता है। 'प्रतीक' ऐसे चिह्न अथवा शब्द चिह्न को कहते हैं जिसके माध्यम से अन्य वस्तु का बोध होता है। 'हिंदी साहित्य कोश' के अनुसार "प्रतीक शब्द का प्रयोग उस दृश्य अथवा गोचर वस्तु के लिये किया जाता है जो किसी अदृश्य (अगोचर या अप्रस्तुत) विषय का प्रतिविधान उसके साथ अपने साहचर्य के कारण करती है। अथवा कहा जा सकता है कि किसी अन्य स्तर की समानुरूप वस्तु द्वारा किसी अन्य स्तर के विषय का प्रतिनिधित्व करने वाली वस्तु प्रतीक है। जैसे अदृश्य या अप्रस्तुत ईश्वर, देवता अथवा व्यक्ति का प्रतिनिधित्व उसकी प्रतिमा या अन्य कोई वस्तु कर सकती है।" साधारण तौर पर कहा जा सकता है कि प्रतीकों के माध्यम से किसी विषय का प्रतिविधान करना प्रतीकवाद है । अपने मौलिक के रूप में यह किसी वस्तु, व्यक्ति, घटना या की क्रिया के प्रतिनिधित्व करने वाले चिह्नों या का शब्दचिह्नों तक ही सीमित था, लेकिन धीरे- ये धीरे इसका बहुत अधिक विकास हुआ और इसमें राष्ट्रध्वज, धार्मिक कर्मकांड, जाति एवं वर्ग, विचारधारा आदि भी सम्मिलित हो गये । तथा इसका स्वरूप जटिल से जटिलतर होता गया।

भावनाओं को जागृत कर देती हैं जैसे 'कमल' माधुर्यपूर्ण कोमल सौंदर्य की भावना जागृत करता है, 'कुमुदिनी' शुभ हास की, 'चंद्र' मृदुल आभा की, 'समुद्र' प्राचुर्य विस्तार और गंभीरता की, 'आकाश' सूक्ष्मता और अनंतता की भावना को जाग्रत करता है। इसी प्रकार 'सर्प' से क्रूरता और कुटिलता का, 'अग्नि' से तेज और क्रोध का, 'वाणी' से वाणी या विद्या का, चातक' से निःस्वार्थ प्रेम का संकेत मिलता ' है ।" मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीकों से परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य मूलतः प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता है। अमूर्त चिंतन अधिक विकसित स्तर का लक्षण है। कुछ प्रतीक सार्वभौम होते हैं जैसे 'सिंह' वीरता का, 'श्वेतरंग' पवित्रता का, 'श्रृंगाल' कायरता का और 'लोमड़ी' चतुरता की प्रतीक है। कबीलों, जातियों, समाजों और राष्ट्रों के सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में महत्व रखने वाले अपने अपने प्रतीक हो जाते हैं। आदिम समाज में कोई विशिष्ट पशु, वृक्ष या अन्य वस्तु, कबीले का प्रतीक, हराम या हलाल बन जाता है। भारतवर्ष में पीपल, बरगद, आंवला, तुलसी आदि वृक्ष और वनस्पतियां तथा पशुओं में गाय और सूअर ऐसे ही प्रतीकों के अवशेष हैं। प्रत्येक राष्ट्र का ध्वज उसके अस्तित्व, गौरव और एकता का प्रतीक होता है। कभी- कभी कोई फूल, पशु या अन्य विषय भी राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है। जैसे 'कमल' भारत का, 'गुलदाउदी' चीन-जापान का, 'कंगारू' ऑस्ट्रेलिया का प्रतीक बन गया है। कुछ प्रतीक ऐतिहासिक संदर्भ के कारण विशेष अर्थ के सूचक बन जाते हैं जैसे 'विभीषण',

'मीरजाफर' और 'जयचंद', देशद्रोह के प्रतीक हैं। 'सीता' और 'सावित्री' आदर्श पतिव्रता की, 'भीष्म' दृढ़ प्रतिज्ञ और ब्रह्मचर्य के प्रतीक हैं। 'सिंदूर' और 'चूड़ियां' सौभाग्य और 'राखी' भाई-बहन के पवित्र रिश्ते की प्रतीक है। राजनीति, साहित्य, कला, शिष्टते की सामाजिक व्यवहार में अनंत प्रतीक खोजे जा सकते हैं। प्रतीकों का सर्वाधिक विकास और महत्व धार्मिक क्षेत्र में दृष्टिगत होता है। भारतवर्ष में 'त्रिशूल', 'नंदी' और 'चंद्र', शिव के प्रतीक हैं तो 'गरुड़', 'शंख' आदि विष्णु के। बौद्ध धर्म की हीनयान शाखा में प्रतीकों को सर्वाधिक सम्मान प्राप्त हुआ है। वहां 'सिंह' शाक्यमुनि के जन्म, 'बोधिवृक्ष' बुद्ध की ज्ञान-प्राप्ति, 'चक्र' उनके धर्मचक्र प्रवर्तन और 'स्तूप' उनके महाप्रस्थान को व्यक्त करता है। ईसाई धर्म में भी प्रतीकों का पर्याप्त प्रचलन है। कब्र पर लगाये जाने वाले पुष्पमय पौधे स्वर्ग के प्रतीक हैं। भेड़ मृतकों का और 'गड़रिया' मृतकों के अधीक्षक का प्रतीक है। इसी तरह अन्य धर्मों में भी प्रतीकों का व्यापक प्रयोग मिलता है। प्रतीकों का वर्गीकरण अनेक आधारों पर किया जाता है । यीट्स ने मात्र दो प्रकार के प्रतीकों की चर्चा की है-ध्वनि प्रतीक और विचार प्रतीक। पहले प्रकार के प्रतीक संवेगात्मक होते हैं और दूसरे प्रकार के बौद्धिक। सी.एम.बावरा ने आकार की दृष्टि से प्रतीकों के तीन वर्ग बनाये हैं-पहला, शब्द प्रतीक, दूसरा, वाक्य प्रतीक और तीसरा, प्रबंध प्रतीक। शब्द प्रतीक में प्रतीकत्व विशिष्ट सारे शब्द आ जाते हैं। वाक्य प्रतीक में मुहावरे और लोकोक्तियां आती हैं और प्रबंध प्रतीकों में अन्योपदेश, रूपक और समासोक्ति पद्धति के काव्य रखे जा सकते हैं। प्रतीकों का यह वर्गीकरण केवल भाषा और अलंकृति के आधार पर हुआ है। इससे प्रतीकों की कथ्यगत विशेषताएं सामने नहीं आतीं, जिनका प्रतीक विधान में आधारभूत महत्व होता है। डॉ. भगीरथ मिश्र ने प्रतीकों को पांच वर्गों में बांटता है- **प्रकृति का प्रतीक, सांस्कृतिक प्रतीक, ऐतिहासिक प्रतीक, जीवन व्यापार संबंधी प्रतीक और शास्त्रीय या वैज्ञानिक प्रतीक** । प्राकृतिक प्रतीकों में प्रकृति के पदार्थ किसी भावना या विचार का प्रतिनिधित्व करते हुए चित्रित किये जाते हैं, जैसे-

"पतझड़ था झाड़ खड़े थे सूखी सी फुलवारी में,
किसलय नव कुसुम बिछाकर आये तुम इस क्यारी में।।"

यहाँ 'पतझड़' विपन्न परिस्थिति का, 'झाड़' दुष्टों का, 'फुलवारी' जीवन या परिवार का, 'किसलय' 'नव कुसुम', मधुरता और आनंद का तथा 'क्यारी' हृदय का प्रतीक है।

संस्कृति से संबंधित प्रतीकों को सांस्कृतिक प्रतीक कहते हैं। रामायण, महाभारत तथा पुराणों से संबंधित तथा बौद्ध, जैन, इस्लाम, ईसाई धर्म की संस्कृतियों के प्रतीक इसके अंतर्गत आ सकते हैं। इनके तीन वर्ग किये जा सकते हैं-संस्कार संबंधी, पौराणिक और आध्यात्मिक प्रतीक। संस्कार संबंधी

प्रतीकों के अंतर्गत जन्म, उपनयन, विवाह, उत्सव आदि से संबंधित प्रतीकों का प्रयोग किया जाता है, जैसे-

"दुलहिन गावहु मंगलाचार/हम घर आये राजा राम भरतार।।"

यहाँ 'दुलहिन' शब्द आत्मा का और 'भरतार' परमात्मा का प्रतीक है।

पौराणिक प्रतीकों का काव्य में बहुत अधिक महत्व होता है। भारतीय साहित्य में ये प्रतीक महाभारत, रामायण, पुराण आदि से लिये जाते हैं, जैसे-

"कर रहा नृत्य विध्वंस, सृजन के थके चरण/
संस्कृति की इति हो रही, क्रुद्ध हैं दुर्वासा, /
बिक रही द्रौपदी नग्न खड़ी चौराहे पर/
पढ़ रहा किंतु साहित्य सितारों की भाषा ।।"

यहाँ दुर्वासा और 'द्रौपदी' पौराणिक प्रतीक हैं। या इसी तरह आध्यात्मिक चेतना से जुड़े प्रतीकों को आध्यात्मिक प्रतीक कहते हैं. जैसे "गगन गरजि बरसे अमी, बादर गहर गंभीर । चहुं दिसि दमकै दामिनी, भीजै दास कबीर ।।"

यहाँ 'गगन' शून्य मंडल का, 'गरजना अनाहत नाद का, 'बादल' आत्मानुभूति का, 'दामिनी' ज्योति का और 'भीगना' आनंद का प्रतीक है। इतिहास के व्यक्ति या घटनाएं जब किसी विशिष्ट भाव या विचारादि का प्रतिनिधिले करते हुए प्रयुक्त होते हैं तो उन्हें ऐतिहासिक प्रतीक कहते हैं। उदाहरणार्थ-

"सत्य है राजा हर्षवर्धन के हाथों से मिला हुआ
पान का सुगंधित एक लघु बीड़ा
(चाहे वह झूठ हो पर उस पर लगा हुआ वर्कदार सोना था)
"हाय बाणभट्ट ! हाय / तुमको भी, तुमको भी, आखिर यही होना था।"

यहाँ 'हर्षवर्धन' वैभव संपन्न उच्चवर्गीय शासक का तथा 'बाणभट्ट' कवि का प्रतीक है।

जीवन-व्यापार-संबंधी प्रतीक ऐसे प्रतीक हैं जिनमें जीवन से संबंधित क्रिया-कलापों और दैनिक घटनाओं को प्रतीक बनाकर प्रयुक्त किया जाता है।

उदाहरणार्थ-

"माधव, यह मेरी इक गाइ / अब आज तै आप आगे दई लैं आइये चराइ।"

यहाँ 'गाय' इंद्रियों का तथा 'चराना' नियंत्रित करने का प्रतीक है।

शास्त्रीय या वैज्ञानिक प्रतीकों का क्षेत्र- विस्तार किसी शास्त्र या विज्ञान में होता है। राजनीति, समाजशास्त्र, मनोविज्ञान, भौतिकशास्त्र, रसायन, जीव विज्ञान आदि

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न . प्रतीक का शाब्दिक अर्थ है

क. छाया

ख. चिन्ह

ग. झंडा

घ. त्रिशूल

प्रश्न . भगीरथ मिश्र ने प्रतीकों को कितने भाग में बांटा है

क. 3

ख. 4

ग. 5

घ. 2

12.5 मिथक

'मिथक' शब्द अंग्रेजी के 'मिथ' (Myth) शब्द से गढ़ लिया गया है और उसका हिंदी प्रतिरूप बन गया है। 'मिथ' शब्द का उद्भव यूनानी शब्द 'मिथॉस' (Mythos) से हुआ है, जिसका अर्थ है 'मुँह से निकला हुआ'। अतः उसका संबंध 'मौखिक कथा' से जुड़ गया क्योंकि कथा भी सुनी सुनायी जाती थी। हिंदी में 'मिथक' के लिये 'पुरावृत्त', 'पुराकथा' 'कल्पकथा', 'देवकथा', 'धर्मकथा', 'पुराणकथा', 'पुराख्यान' आदि अनेक शब्द प्रयुक्त होते रहे हैं। स्पष्ट है कि इनसे 'मिथ' के पूरे अर्थ का सम्प्रेषण नहीं हो पाता । इन प्रतिशब्दों में या तो अव्याप्ति दोष है या अतिव्याप्ति। इसलिए हिंदी में भी 'मिथक' शब्द का प्रयोग ही समीचीन है। वस्तुतः मिथक का संबंधी आदिम लोक मानस से है। अपनी सरलतम परिभाषा में "मिथक एक कथा है, जिसमें सृष्टि और उसके उपकरणों के उद्भव, उसकी गतिक्रिया और उस पर नियंत्रण, उसके अबूझ व्यापार, मूलभूत मानवीय क्रियाओं और समस्याओं, प्रतिरूपों और तत्त्वों, जीवन-मरण आदि विहंगम विषयों को लेकर आरंभ कालीन धारणाएं, चिंताएं, विश्वास और तत्संबंधी कर्मकांड को अभिव्यक्ति मिली है।" यह कथा अपने निर्माण-काल में तथ्य-कथन के रूप में थी, किंतु अपने विकास क्रम में सामयिक दूरी के साथ प्रतीकार्थ प्रधान होती गयी है। मिथक में आदिम विज्ञान, धर्म, दर्शन, कर्मकांड सभी संश्लिष्ट रूप में विद्यमान हैं। संक्षेप में मिथक को आदिम मनुष्यों के मानसिक, भौतिक जीवन का प्रतीकात्मक कथासंग्रह कह सकते हैं। डॉ. नगेंद्र ने मिथक को परिभाषित करते हुए

लिखा है-'सामान्य रूप से मिथक का अर्थ है ऐसी परंपरागत कथा, जिसका संबंध अतिप्राकृत घटनाओं और भावों से होता है। मिथक मूलतः आदिम मानव के समष्टि-
मन की सृष्टि है, जिसमें चेतन की अपेक्षा अचेतन प्रक्रिया का प्राधान्य होता है।"
मिथक के उद्भव को लेकर विभिन्न विद्वानों ने विभिन्न संभावनाएं सामने रखी हैं। आदिम मानव, प्रकृति की शक्तियों तथा व्यापारों के रहस्यों को पूरी तरह समझने-समझाने में असमर्थ होने के कारण अपनी कल्पना के माध्यम से उन्हें देवी-देवताओं तथा अन्य अतिमानवीय शक्तियों का रूप दे देता था। आरंभिक मनुष्य की ये कल्पित अतिमानवीय शक्तियां कालांतर में मिथक बनकर उभरी। इस प्रकार धार्मिक विश्वास तथा मिथक में अटूट संबंध है। धार्मिक विधि-विधान से जुड़े आख्यानों ने भी मिथकों का रूप ले लिया। इनके पीछे उन रहस्यमयी शक्तियों को तुष्ट करके विपत्तियों से जन- समाज की रक्षा करने की भावना प्रमुख थी। भारत के हिंदू समाज में ही विभिन्न व्रतों की कथाओं में इस तथ्य का परिचय मिल जायेगा। अपनी आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार मनुष्य इन मिथकों को रूप भी देता रहा है और इनके माध्यम से सृष्टि के रहस्यों की व्याख्या भी करता रहा है। नृतत्वशास्त्री लेवी स्त्रॉस (Levi Strauss, Claude, 1908-) ने मिथकों के अध्ययन के माध्यम से विभिन्न आदिम संस्कृतियों की संरचनाओं का अध्ययन तथा उनकी परस्पर तुलना भी की है। इस प्रकार मिथक धार्मिक आख्यानों तथा कर्मकांडों के रूप में संस्कृति के अंग मात्र नहीं, कहीं-कहीं पूरी संस्कृति की प्रकृति के परिचायक भी बन जाते हैं। दुर्खीम (Emile Durkheim, 1858- 1917) तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने माना है कि मिथक सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण तथा संचालन के लिए गढ़े गए हैं। ये किसी मानव समाज की सामूहिक अनुभूतियों से उपजते हैं और उसे एक इकाई में भी बांधते हैं। यह अपने आप में एक समाजशास्त्रीय तथ्य तो है ही, समाज तथा उसके विकास के अध्ययन में भी के योगदान यह सहायक होता है। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण में मिथकों के अध्ययन को बहुत महत्व दिया गया है। इस संदर्भ में फ्रॉयड (Sigmund freud, 1856- 1939) तथा जुंग (Carl Gustav Jung, 1875- 1961) के सिद्धांतों में कुछ अंतर है पर आगे के मिथक संबंधी विवेचनों में जुंग के मत को अधिक मान्यता मिली। उनके अनुसार मिथक का जन्म व्यक्ति में नहीं बल्कि समूह के मानस में होता है-वह भी चेतन मन में नहीं, अचेतन मन में। किसी मानव समाज के सामूहिक मानस में परंपरा से प्राप्त अनुभव संवेदना में ढलकर बिंबों का रूप ले लेते हैं। इन्हें युंग ने 'आर्कटाइप' (आद्यबिंब) का नाम दिया है। देवी, देवता, प्राकृत तथा अतिप्राकृत शक्तियां, स्वर्ग तथा नरक की अवधारणाएं, सृष्टि के रहस्यों से जुड़ी संकल्पनाएं, जादू, टोने आदि को लेकर अनेक आद्यबिंब किसी भी समाज के सामूहिक अवचेतन की गहराई में स्थित रहते हैं और मिथकों में प्रसंगों या कथाओं के रूप में इन बिंबों का संयोजन होता है।

समाज के मानस तथा संवेदना से जुड़े रहने के कारण अवचेतन या विस्मृति के गर्भ में छिपे ये बिंब या मिथक उस समाज के व्यक्तियों की भावाभिव्यक्तियों में बार-बार अनेक रूपों में आते हैं। साहित्य में भी इसीलिए उन बिंबों की पुनरावृत्ति बार-बार होती है और उनके माध्यम से उस जाति के मनोविज्ञान तथा मानसिकता का इतिहास भी सामने आता है।

मिथक किसी भी संस्कृति की समझ और पहचान के लिये उपादेय हो सकते हैं, क्योंकि इनमें ज्ञानेंद्रियों के जटिल और वैविध्यपूर्ण आद्य अनुभव-पुंज निहित हैं। मानव समाज और उसके संस्थागत विकास-रूपों के अध्ययन में मिथकों का अत्यंत महत्वपूर्ण योगदान है। भाषा-विज्ञान के विकास में भी मिथकों को अनदेखा नहीं किया जा सकता। रूप विज्ञान और अर्थ विज्ञान विभागों की अनेक समस्याओं के समाधान मिथकों में सहज ही मिल जाते हैं। डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव के शब्दों में, "मिथक मानव-मस्तिष्क की विश्व- व्यापकता, मानव मात्र की संरचनात्मक मूलभूत समानता के उद्घोषक हैं। विश्व और विश्व की वस्तुओं तथा इसमें रहने वाले प्राणियों के उद्भव से संबंधित मिथक सर्वत्र प्रायः एक जैसे हैं। देवरूपों और उनके नामों में मिलने वाली अद्भुत समानताओं के पीछे मानवीय मस्तिष्क की एकता ही है। इसका तात्पर्य यह नहीं कि देशगत तथा युगगत परिवर्तनों का मानवीय मस्तिष्क पर प्रभाव नहीं पड़ा करता। भौगोलिक और सामयिक स्थितियों के विभेद की छाप विभिन्न देशीय मिथकों में लक्षित होती ही है। कथ्य केवल यह है कि मानववादी विचारणा के प्रसार में मिथक मानवीय समानता के सशक्त साक्ष्य प्रस्तुत करते हैं।" अपनी इसी व्यापकता और परिपूर्णता के कारण मिथक दर्शनशास्त्र, मनोविज्ञान, समाजशास्त्र, सांस्कृतिक नृविज्ञान तथा अन्य शैक्षिक विशेषीकरणों से जुड़े हुए हैं। मिथकों के महत्व और व्यापकता का आकलन करते हुए डॉ. जगदीश प्रसाद श्रीवास्तव ने आगे लिखा है, "मिथक संपूर्ण मानवता के शताब्दियों में सारभूत अनुभव-पुंज हैं और अवचेतन में सुषुप्त होने के बावजूद वे प्रकृति, ऋतु, नेता, नवीन विचार, यौन-प्रवृत्ति, जनतंत्र या सामूहिकता, विज्ञान और मनोविज्ञान आदि सभी क्षेत्रों में हमारा प्रत्यक्षाप्रत्यक्ष रूप से नियमन करते हैं, हमें प्रेरित करते हैं और अभिव्यक्ति की दिशाएं देते हैं। कोपर्निकस ने सूर्य और मनुष्य का तादात्म्यीकरण करके खगोल-विज्ञान में क्रांति को, कैकूल ने सर्प-मिथक का स्वप्न देखकर बेंजीन-ढांचे का सूत्र ढूंढ निकाला, फ्रायड ने मनुष्य की आंतरिकता के उद्घाटन के लिये ओलिम्पस के मिथकीय जगत के प्रतीकों का भंडार खर्च कर डाला, कामू ने सिसिफस के माध्यम से फूहड़ता की व्याख्या की। कई अत्याधुनिक भारतीय बुद्धिजीवियों को यह जानकर शायद आश्चर्य आऔर दुःख होगा कि समसामयिक बुद्धिजीवी मंडल का गौरव फ्रेंज काफ्का भी आत्मसिद्धि और अंतर्मुखी जीवन के 'अर्थ' की तलाश में मिथक स्रोत के पास गया।" तात्पर्य यह है कि ज्ञान-विज्ञान के विविध क्षेत्रों में मिथकों का अत्यधिक महत्व है। मानव

जाति की एकता, जीवन और जगत के प्रति आस्था तथा सभ्यता और संस्कृति के विकास में मिथकों का योगदान अप्रतिम है। मिथकों को सामान्यतया तीन हिस्सों में बांटा जा सकता है-सृष्टि संबंधी मिथक, प्रलय संबंधी मिथक और देवताओं के प्रणयाचार संबंधी मिथक। विश्व की प्राचीन जातियों की पुराकथाओं में सृष्टि के विकास के संबंध में मिथक का प्रयोग किया गया है। इसके अनुसार सृष्टि का उद्गम एक विशाल अंडाकार पदार्थ से हुआ, जिसके फटने से देव जाति या अतिप्राकृत प्राणी, आकाश और पृथ्वी का जन्म हुआ। भारतीय पुराणों में भी सृष्टि के विषय में इसी से मिलती-जुलती कथा प्रचलित है। इसी तरह महाप्रलय और उससे बचे मनु की कथा तथा उनकी नाव की आदिम कथा सभी जातियों के प्राचीन साहित्य में नीह या नूह और उसकी नाव की कथा के रूप में वर्णित है। यह कथा मिथक के रूप में विद्यमान है। देवताओं के प्रणयाचार संबंधी मिथकों का संबंध प्रकृति के मूल या आदि तत्त्वों के प्रणय व्यापार से है। भारतीय पुराणों में वर्णित देवताओं के प्रणय-विवाह आदि से संबंधित मिथक इसके अंतर्गत आ सकते हैं। पुरुष-प्रकृति, ब्रह्म-माया, विष्णु-लक्ष्मी, शिव-शक्ति आदि के युग्म-संबंध और उससे विश्व की उत्पत्ति की कया मिश के रूप में प्रचलित है। डॉ. नगेंद्र ने मिथकों के दो वर्ग किये हैं- प्राकृतिक मिथक और धार्मिक मिथक। उन्होंने धार्मिक मिथकों को भी दो हिस्सों में बांटा है- उपास्य देवों के स्वरूप से संबद्ध मिथक और कर्मकांड संबंधी मिथक। मिथक के अंतर्गत धर्म, लोक-साहित्य, मानव-विज्ञान, समाज-विज्ञान, मनोविश्लेषण तथा ललित कलाएं ये सब आ जाते हैं। इसीलिए मिथक आज की आलोचना का एक सशक्त, महत्वपूर्ण और लोकप्रिय पहलू बनता जा रहा है। बीसवीं सदी के मध्य में मिथकीय समीक्षा के सिद्धांत विवेचन के साथ ही कृतियों की परख मिथक की दृष्टि से की जाने लगी थी। साहित्य की समीक्षा के लिए अपनाये जाने वाले मिथक के तत्त्वों के विषय में डॉ. बच्चन सिंह ने रेनेवेलेक का उद्धरण दिया है और निष्कर्ष देते हुए लिखा है कि 'मुख्यतः मिथकों से पांच तत्त्वों को साहित्य में ग्रहण किया जा सकता है-अतिप्राकृत तत्त्व, अनुष्ठान, आख्यान, बिंब और प्रतीक। 'प्रसाद की कामायनी में अतिप्राकृत तत्त्व के साथ अनुष्ठान भी ग्रहण किये गये हैं। महाप्रलय की कथा थोड़े-बहुत हेरफेर के साथ भारत के अतिरिक्त अन्य देशों और धममों में भी पायी जाती है। निराला की 'राम की शक्ति पूजा' में भी अतिप्राकृत तत्त्व और अनुष्ठानों का विधान किया गया है। हनुमान का ऊर्ध्वगमन अतिप्राकृत तत्त्व है। शक्तिपूजा के अनुष्ठान को उसक प्रतीकात्मकता में सार्वभौम बना दिया है अनुष्ठानों का प्रयोग आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी (के उपन्यासों में अधिक हुआ है। 'बाणभट्ट की आत्मकथा' में अघोर भैरव की अवधारणा एक अनुष्ठान है तो महावराह एक प्रतीक कथा- बिंब। मुक्तिबोध ने अपनी कविताओं में मिथकीय प्रतीकों और बिंबों का अनकेशः प्रयोग किया

है। उनकी अनेक कविताएं भूत-प्रेत, भैरो, पशु- पक्षी, पेड़-पौधों, औरांग-उटांग आदि से विन्यस्त नया मिथक बनाती हैं।

अभ्यास प्रश्न

प्रश्न . अंग्रेजी के किस शब्द से मिथक शब्द गढा गया है

क. Myth

ख. Myts

ग. Moth

घ. Mtoh

प्रश्न . हिंदी में 'मिथक' के लिये शब्द है

क. 'पुरावृत्त', 'पुराकथा'

ख. 'कल्पकथा', 'देवकथा',

ग. 'धर्मकथा', 'पुराणकथा', 'पुराख्यान'

घ. उपरोक्त सभी

12 .6 सारांश

बिंबों का वर्गीकरण कई दृष्टियों से किया गया है-अभिव्यंजना-पद्धति की दृष्टि से, स्वरूप की दृष्टि से, ग्राह्येंद्रिय के आधार पर, प्रेरक अनुभूति के आधार पर और अर्थ की दृष्टि से। बिंब का वर्गीकरण कई दृष्टियों में किया गया है। इन सभी बिंब को समझना और उनका साहित्य में किस तरह प्रयोग किया है इसे समझना अनिवार्य है तभी कविता, कहानी, उपन्यास, नाटक को सामजिक सन्दर्भों से जोड़ कर देख सकेंगे। बिंब बड़े सशक्त होते हैं और हमारी सुप्त सांस्कृतिक वासनाओं को उभारने में बहुत समर्थ होते हैं। इनसे तादात्म्य सहज ही हो जाता है क्योंकि ये सामूहिक अवचेतन से निर्मित हुए ब होते हैं। ये मूलतः जातीय अनुभूति, राष्ट्र की सांस्कृतिक-वासना से निर्मित होते हैं। उदाहरण व के लिए, मर्यादापालन की दृष्टि से राम, रसिकता न की दृष्टि से कृष्ण, वीरता की दृष्टि से अभिमन्यु, शारीरिक बल की दृष्टि से भीम, त्याग-बलिदान की दृष्टि से दधीचि आदि ऐसे ही आदि-बिंब हैं। **प्रतीक** मनुष्य का समस्त जीवन प्रतीकों से परिपूर्ण है। वस्तुतः मनुष्य मूलतः प्रतीकों के माध्यम से ही सोचता है। अमूर्त चिंतन अधिक विकसित स्तर का लक्षण है। कुछ प्रतीक सार्वभौम होते हैं जैसे 'सिंह' वीरता का, 'श्वेतरंग' पवित्रता का, 'श्रृंगाल' कायरता का और 'लोमड़ी' चतुरता की प्रतीक है। कबीलों, जातियों, समाजों और राष्ट्रों के सामाजिक एवं व्यक्तिगत जीवन में महत्व रखने वाले अपने अपने प्रतीक हो जाते हैं। आदिम समाज में कोई विशिष्ट पशु, वृक्ष या अन्य वस्तु, कबीले का प्रतीक, हराम या हलाल

बन जाता है। भारतवर्ष में पीपल, बरगद, आंवला, तुलसी आदि वृक्ष और वनस्पतियां तथा पशुओं में गाय और सूअर ऐसे ही प्रतीकों के अवशेष हैं। प्रत्येक राष्ट्र का ध्वज उसके अस्तित्व, गौरव और एकता का प्रतीक होता है। कभी- कभी कोई फूल, पशु या अन्य विषय भी राष्ट्र का प्रतीक बन जाता है। जैसे 'कमल' भारत का, 'गुलदाउदी' चीन-जापान का, 'कंगारू' ऑस्ट्रेलिया का प्रतीक बन गया है। कुछ प्रतीक ऐतिहासिक संदर्भ के कारण विशेष अर्थ के सूचक बन जाते हैं जैसे 'विभीषण', 'मीरजाफर' और 'जयचंद', देशद्रोह के प्रतीक हैं। **मिथक** आदिम मानव, प्रकृति की शक्तियों तथा व्यापारों के रहस्यों को पूरी तरह समझने-समझाने में असमर्थ होने के कारण अपनी कल्पना के माध्यम से उन्हें देवी-देवताओं तथा अन्य अतिमानवीय शक्तियों का रूप दे देता था। आरंभिक मनुष्य की ये कल्पित अतिमानवीय शक्तियां कालांतर में मिथक बनकर उभरी। इस प्रकार धार्मिक विश्वास तथा मिथक में अटूट संबंध है। धार्मिक विधि-विधान से जुड़े आख्यानों ने भी मिथकों का रूप ले लिया। इनके पीछे उन रहस्यमयी शक्तियों को तुष्ट करके विपत्तियों से जन- समाज की रक्षा करने की भावना प्रमुख थी। भारत के हिंदू समाज में ही विभिन्न व्रतों की कथाओं में इस तथ्य का परिचय मिल जायेगा। अपनी आवश्यकता तथा स्थिति के अनुसार मनुष्य इन मिथकों को रूप भी देता रहा है और इनके माध्यम से सृष्टि के रहस्यों की व्याख्या भी करता रहा है। नृतत्वशास्त्री लेवी स्त्रॉस (Levi Strauss, Claude, 1908-) ने मिथकों के अध्ययन के माध्यम से विभिन्न आदिम संस्कृतियों की संरचनाओं का अध्ययन तथा उनकी परस्पर तुलना भी की है। इस प्रकार मिथक धार्मिक आख्यानों तथा कर्मकांडों के रूप में संस्कृति के अंग मात्र नहीं, कहीं-कहीं पूरी संस्कृति की प्रकृति के परिचायक भी बन जाते हैं। दुर्खीम (Emile Durkheim, 1858- 1917) तथा अन्य समाजशास्त्रियों ने माना है कि मिथक सामाजिक व्यवस्था के संरक्षण तथा संचालन के लिए गढ़े गए हैं। ये किसी मानव समाज की सामूहिक अनुभूतियों से उपजते हैं और उसे एक इकाई में भी बांधते हैं। यह अपने आप में एक समाजशास्त्रीय तथ्य तो है ही, समाज तथा उसके विकास के अध्ययन में भी के योगदान यह सहायक होता है। मनोविज्ञान तथा मनोविश्लेषण में मिथकों के अध्ययन को बहुत महत्व दिया गया है। इस संदर्भ में फ्रॉयड (Sigmund freud, 1856- 1939) तथा जुंग (Carl Gustav Jung, 1875- 1961) के सिद्धांतों में कुछ अंतर है पर आगे के मिथक संबंधी विवेचनों में जुंग के मत को अधिक मान्यता मिली। उनके अनुसार मिथक का जन्म व्यक्ति में नहीं बल्कि समूह के मानस में होता है-वह भी चेतन मन में नहीं, अचेतन मन में। किसी मानव समाज के सामूहिक मानस में परंपरा से प्राप्त अनुभव संवेदना में ढलकर बिंबों का रूप ले लेते हैं। इन्हें युंग ने 'आर्कटाइप' (आद्यबिंब) का नाम दिया है।

12.7 शब्दावली

बिंब Image : हिंदी में "छवि" या "दृश्य" यह किसी वस्तु, व्यक्ति, स्थान, आदि के चित्रांकन को संकेतित करता है **प्रतीक Symbol :** प्रतीक एक वस्तु, चिह्न, या चित्र होता है जो किसी अबस्था, वस्तु, या विचार का प्रतिनिधित्व करता है।

मिथक' शब्द अंग्रेजी के ' मिथ' **(Myth)** शब्द से गढ़ लिया गया है और उसका हिंदी प्रतिरूप बन गया है।

'मिथ' शब्द का उद्भव यूनानी शब्द **'मिथॉस'** (Mythos) से हुआ है, जिसका अर्थ है 'मुँह से निकला हुआ'

12.8 अभ्यास प्रश्नों के उत्तर

अभ्यास 1

प्रश्न 1 . ख, प्रश्न 2. क

अभ्यास 2

प्रश्न – 1 ख, प्रश्न-2 ग

अभ्यास 3

प्रश्न- 1 क, प्रश्न-2 घ

12.9 उपयोगी पाठ्यपुस्तकें

1. हिंदी आलोचना की परिभाषिक शब्दावली , अमरनाथ
2. चिंतामणि भाग-दो, रामचंद्र शुक्ल।
3. पाश्चात्य काव्यशास्त्रः अधुनातन संदर्भ, सत्यदेव मिश्र।
4. हिंदी साहित्य कोश भाग-1।
5. Encyclopaedia of Poetry and Poetics, Alex Preminger.
6. A Dictionary of Literary Terms & Literary Theory, J.A.Cuddon.
7. Modern Critical Terms, Roger Fowler.
8. A Glossary of Literary Terms, M.H.Abrams.
9. आधुनिक हिंदी कविता में बिंब विधान, केदारनाथ सिंह।
10. पाश्चात्य काव्य शास्त्र के सिद्धांत, शांति स्वरूप गुप्त।
11. पाश्चात्य काव्यशास्त्र अधुनातन संदर्भ, सत्यदेव मिश्र।
12. हिंदी आलोचना के बीज शब्द, बच्चन सिंह।

13. 4. Imagism, S.K.Coffman.
14. 5. The Poetic Image, C.D.Lewis.
15. 6. Art Now, Herbert Read.
16. 7. Encyclopaedia of Poetry and Poetics, Alex Preminger.
17. 8. Romantic Image, Frank Kermode.
18. मिथक और यथार्थ, दामोदर धर्मानंद कौसंबी।
19. भारतीय मिथक कोश, डॉ. उषा पुरी विद्यावाचस्पति।
20. आधुनिक काव्यधारा का सांस्कृतिक स्रोत, डॉ. केशरी नारायण शुक्ल।
21. मिथक और स्वप्न (कामायनी की मनस्सौंदर्य सामाजिक भूमिका), रमेश कुंतल मेघ।
22. आधुनिक हिंदी काव्य में मिथकीय कल्पना, जगदीश प्रसाद श्रीवस्ताव।
23. मिथक और आधुनिक हिंदी कविता, डॉ. शंभुनाथ
24. Myth, Laurence Coupe.
25. 8. Pears Encyclopaedia of Myths and Legends, Elizabeth and Sheila Savill
26. 9. Introduction to the Science of Mythology, 4 Vols, Claude Levi-Strauss.

12.10 निबंधात्मक प्रश्न

1. 'बिंब' पर निबन्ध लिखिए।
2. 'प्रतीक' पर निबन्ध लिखिए।
3. 'मिथक' किसे कहते है विस्तार से लिखिए।